राजस्थान-साहित्य : परम्परा और प्रगति

राजस्थान-साहित्य

परम्परा और प्रगति

लेखक

डा० सरनामसिंह एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग

राजस्थान कालेज, जयपुर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

प्रथमावृत्ति] १९५९ [मूल्य २)

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

मूल्य	:	**दो**	**रुपये**
प्रथम संस्करण	:	अक्टूबर	१९५९
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,	दिल्ली

दो शब्द

कुछ दिनों से मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि राजस्थानी-साहित्य की परम्पराओं का अध्ययन हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी गद्य-पद्य की अनेक परम्पराएँ राजस्थानी-साहित्य के आभार को नहीं भुला सकतीं। राजस्थानी-गद्य तो इतना प्राचीन है कि उसके साथ सम्बन्ध स्थापित किए बिना हिन्दी-गद्य बहुत नया दीख पड़ता है। राजस्थानी-साहित्य के सम्बन्ध में समय-समय पर जो लेख निकले उनसे भी मुझे उक्त अध्ययन की दिशा में बड़ी प्रेरणा मिली। राजस्थानी बोलियों का अध्ययन करते समय यह प्रेरणा अदम्य हो गई, किन्तु स्वास्थ्य और समय का असहयोग मुझे खिन्न करता रहा। सहसा राजस्थान साहित्य अकादमी के एक निमंत्रण ने मेरी प्रेरणा को और भी उदग्र कर दिया। अकादमी ने अपने तत्त्वावधान में 'राजस्थान-साहित्य की परम्परा और प्रगति' पर एक निबन्ध लिखने के लिए आमंत्रण देकर मेरे खेद का दमन करके ऐसा उत्साह जगाया कि कुछ ही दिनों में मैंने प्रस्तुत निबंध लिख डाला। एक सप्ताह से भी थोड़े समय में इसे तैयार करके मुझे जो सुख हुआ कदाचित् उससे भी अधिक अकादमी के अध्यक्ष श्री जनार्दनराम जी नागर को इसके सुनने पर हुआ।

इस निबन्ध की किसी नवीनता का श्रेय लेखक को मिले या न मिले, किन्तु अध्ययन के अन्तर से जो सुझाव मुझे मिले हैं उनकी व्यवस्था में मैं मौलिकता अवश्य मानता हूँ। आशा है कि 'राजस्थान-साहित्य की परंपरा और प्रगति' अपनी इस व्यवस्था से ऐतिहासिक अध्ययन को साहित्यिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकेगी।

२१-१०-५९ —सरनामसिंह

विषय-सूची

: १ :

विषय प्रवेश

राजस्थान शब्द का अर्थ है राजाओं का स्थान अर्थात् वह स्थान जहाँ राजाओं का आधिक्य या प्रामुख्य रहा है। भारतीय इतिहास से पता चलता है कि एक ऐसा समय भी था जब कि भारत का अधिकांश भाग अस्त-व्यस्त एवं अराजकतापूर्ण वातावरण में रहा। यह युग काफी बड़ा रहा। उस समय आत्मसम्मानी तेजस्वी एवं अध्यवसायी व्यक्तियों को ऐसे दुर्गम आश्रय-स्थलों की आवश्यकता थी, जहाँ वे प्रबल शत्रुओं के भय से विमुक्त होकर रह सकते। तत्कालीन मरुदेश उनके इस कार्य को पूर्ण कर सकता था। जो वीर इधर आया, मरुदेश ने अंक पसार कर उसका स्वागत किया और प्रश्रय दिया। अनेक वीर यहाँ आये और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार एक-एक राज्य की स्थापना करके बस गये। इन्हीं राजाओं की परम्परा का यह मरु-देश 'राजस्थान' नाम से अभिहित हुआ।

नामकरण का समय

मरुदेश को "राजस्थान" अभिधा कब मिली, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह बहुत पुराना नाम नहीं है। मेरी समझ में यह नाम कोई सवा सौ वर्ष से पहले का नहीं है। यों तो कुछ प्राचीन चारण-गीतों में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु भिन्न अर्थ में। नैणसी, बाँकी-दास आदि ख्यात-लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग राजधानी के अर्थ में किया है। श्री रावत सारस्वत[1] दो-एक ऐसे गीतों से भी परिचित हैं जिनमें यह शब्द आज के प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

---

१. देखिये राजस्थान भारती, भाग १, अंक १—अप्रैल सन् १९४६

प्रचलन

इस शब्द को प्रचलन में लाने का विशेष श्रेय देश की सांस्कृतिक एकता और पारस्परिकता को खंडित करके अपना उल्लू सीधा करने वाले अंग्रेजों को मिलना चाहिये। उनमें से सबसे पहले कर्नल टॉड ने अपने "अनाल्स ऑफ राजस्थान" में इस शब्द का प्रयोग किया, फिर तो अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने इस शब्द को अपना लिया। ग्रियर्सन ने यहाँ की बोलियों को राजस्थानी नाम देकर उनका सम्बन्ध पश्चिमी हिन्दी से विच्छिन्न करने का प्रयत्न किया और अंग्रेजी कूटनीति के इतिहास में एक नये सर्ग का योग किया।

पर्यायी शब्द

राजस्थान का एक पर्यायी शब्द "राजपूताना" भी रहा, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में। अंग्रेज अधिकारियों ने प्रायः इसी नाम का प्रयोग किया। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् राजपूताना नाम को अंग्रेजों के साथ ही विदाई दे दी गई और उसके स्थान पर "राजस्थान" नाम का प्रयोग होने लगा। कुछ समय तक "मत्स्य प्रदेश" राजस्थान से पृथक् रहकर प्रान्तों के नवीनीकरण के समय वह भी राजस्थान में विलीन हो गया। फिर भी राजपूताना विश्व-विद्यालय के लेखों और प्रमाणपत्रों में "राजपूताना" शब्द की ममता बनी रही, किन्तु सन् १९५७ में उसने भी इस नाम का विसर्जन करके नवयुग की चेतना और गति में अपना योग दिया।

व्यापारिक क्षेत्रों में "राजस्थान" का पर्यायवाची शब्द "मारवाड़" चला आ रहा है। राजस्थान के व्यापारी अन्य प्रान्तों में मारवाड़ी नाम से ही प्रसिद्ध हैं। उनकी यह संज्ञा देश के कोने-कोने में प्रचलित है और यहाँ के व्यापारियों को भी शायद यह प्रिय लगती है। यह मोह कब तक हमारा पीछा करेगा, यह कहना कठिन है, किन्तु ऐसे नाम हमारी एकता के बाधक हैं।

हमारे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में "राजस्थान" के स्थान पर मरुदेश, मरुधर, मारू देश और "राजस्थानी" के स्थान पर मरुदेश-भाषा, मरुभाषा और मारू-भाषा इत्यादि शब्द मिलते हैं, परन्तु प्राचीन मरुदेश के अन्तर्गत

जो भू-भाग प्रतिष्ठित था वह आज के राजस्थान से कुछ भिन्न था। प्राचीन ग्रन्थों में मरुदेश के साथ-साथ मेवाड़, मालव और ढूँढाड़ देश भी प्रतिष्ठित रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान नाम से अभिहित मरुदेश आज उक्त अनेक भू-भागों और वहाँ की भाषाओं और बोलियों का प्रतिनिधि है।

राजस्थान साहित्य

यह समस्त पद कुछ भ्रम पैदा कर सकता है। अतएव यहाँ इसका स्पष्टीकरण कर देना उचित दीख पड़ता है। इस पद से थोड़े-थोड़े भिन्न अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। इसके प्रमुख अर्थ ये हो सकते हैं—(१) राजस्थान का साहित्य, (२) राजस्थानी का साहित्य, (३) राजस्थानियों का साहित्य (चाहे वे गुजरात में हों, चाहे बंगाल में), (४) राजस्थान से सम्बन्धित साहित्य और (५) राजस्थानी से सम्बन्धित साहित्य। हम यहाँ किसी एक अर्थ को पकड़कर नहीं बैठ सकते। हमारा अभिप्राय विसर्जन और परिग्रह, दोनों के सम्बन्ध से ही व्यक्त हो सकता है। अतएव न तो हम माघ जैसे राजस्थान के कवियों की संस्कृत रचनाओं को ही लेंगे और न तैसितोरी एवं ग्रियर्सन जैसे विद्वानों के शोध-साहित्य को ही छोड़ेंगे। ब्रज-भाषा और खड़ीबोली की रचनाएँ भी राजस्थान साहित्य की सीमाओं में संनिविष्ट होंगी।

भाषा

साहित्य की चर्चा करते समय भाषा की चर्चा भी आवश्यक हो जाती है। जब हम साहित्य की बात करते हैं तो उसकी भाषा भी उसमें आ जाती है। राजस्थान साहित्य की चर्चा छेड़ते समय इस अर्थ को थोड़ा विकसित करना होगा। इससे राजस्थान की भाषा पर भी विचार करना होगा। भाषा तीन प्रकार की होती है—राजकीय, व्यावहारिक एवं साहित्यिक। भारत में प्राचीन काल से ही ये तीनों रूप मिलते रहे हैं। राजकीय भाषा का उपयोग केवल राजकाज के लिए होता है, किन्तु उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उसी स्थान की व्यावहारिक भाषा या बोली भी हो। व्यावहारिक भाषा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होती है। भाषा के लिए उसका स्थानीय

होना आवश्यक नहीं है। स्थानीय भाषाएँ स्थान-भेद से भिन्न होते हुए भी साहित्यिक भाषा एक हो सकती है।

राजस्थान की भाषाएँ

इस दृष्टि से राजस्थान में भी बहुत प्राचीन काल से तीन भाषाएँ रही हैं, किन्तु प्राचीन काल में राजकीय भाषा कोई भारतीय भाषा ही रहती थी। मुगल काल से राजकीय भाषा ने पलटा खाया और फारसी ने राजकीय भाषा का पद प्राप्त किया। इसी प्रकार अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी ने राजभाषा का पद सँभाला। राजस्थान के प्राचीन साहित्य में अपभ्रंश मिश्रित मरुभाषा का प्रयोग होता था, किन्तु मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में राजस्थान की साहित्यिक भाषा मरुभाषा ही रही। उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप के प्रौढ़ हो जाने पर भक्ति और धर्म के क्षेत्रों में राजस्थान में ब्रजभाषा भी काव्य-भाषा बन गई। इस युग में मरुभाषा और ब्रजभाषा दोनों में यहाँ साहित्य की सृष्टि होती रही। इसी समय अपभ्रंश के योग से ब्रजभाषा की पिंगल शैली की स्पर्धा में यहाँ के चारण कवियों ने एक नवीन शैली का विकास किया जिसका नाम डिंगल रखा गया। यह शैली आज भी चलती है, किन्तु इसमें स्वाभाविक भाषा नहीं होती।

अंग्रेजी और खड़ीबोली

राजस्थान में अंग्रेजी सत्ता के आने पर अर्थात् "गदर" के पश्चात् यहाँ प्रमुख रूप से दो भाषाएँ पनपने लगीं—अंग्रेजी और खड़ीबोली। अंग्रेजी राजभाषा रही और खड़ीबोली साहित्यिक भाषा के पद के लिए सतत् प्रयत्न करती रही, किन्तु बोलियों का अपना सम्मान रहा और बोलियों में भी साहित्य की सृष्टि होने लगी। इसी कारण मेवाती, मेवाड़ी, मालवी, मारवाड़ी, हाड़ौती, ढूँढारी आदि में भी साहित्य-सृष्टि होने लगी और बोलियों को साहित्य में प्रोत्साहन मिला।

काल-विभाजन

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से राजस्थान-साहित्य को हम तीन काल में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्राचीन काल, सं० ११५०-१४५०, (२)

मध्यकाल, १४५०-१८७५ और (३) आधुनिक काल, सं० १८७५ से आज तक।

राजस्थान की बोलियाँ

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि राजस्थान की साहित्यिक भाषा विशेषतः काव्य भाषा "मरुभाषा" ही थी। इस राजस्थान में जो आज विद्यमान है २७ बोलियाँ बोली जाती हैं, किन्तु ग्रियर्सन ने मूलभेद पाँच किये है:—मारवाड़ी, मध्यपूर्वीय मारवाड़ी, उत्तरपूर्वीय मारवाड़ी, मालवी और नीमाड़ी। साहित्य, क्षेत्रफल और जनसंख्या, तीनों दृष्टिकोणों से उक्त पाँच बोलियों में से प्रमुख पश्चिमी बोली है जिसे मारवाड़ी नाम दिया गया है और जिसको प्राचीन काल में मरुभाषा आदि नाम दिये गये थे। यह बोली मारवाड़, मेवाड़, पूर्वी सिन्ध, जैसलमेर, बीकानेर, दक्षिणी पंजाब और भूतपूर्व जयपुर राज्य के उत्तरी-पश्चिमी भाग में थोड़े-थोड़े भेद से बोली जाती है। इसका प्रादेशिक क्षेत्रफल अन्य राजस्थानी बोलियों के सम्मिलित क्षेत्रफल से भी अधिक है। मध्यपूर्वीय बोली दो नामों के अन्तर्गत पुकारी जाती है—जयपुरी और हाड़ौती। इनके अतिरिक्त इस बोली के और भी प्रकार हैं, किन्तु इनमें जयपुरी ही प्रमुख है। मारवाड़ी की अपेक्षा जयपुरी, यद्यपि राजस्थान के पूर्व में, गुजराती से अधिक मिलती-जुलती है, किन्तु मारवाड़ी का झुकाव अपने निकट पश्चिमी में पड़ौसिन सिंधी की ओर है। उत्तर-पूर्वीय राजस्थानी में अलवर, भरतपुर और गुड़गाँव की मेवाती और दिल्ली के दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमीय अहीर प्रदेश की "अहीरवाटी" सम्मिलित हैं—यह राजस्थानी का वह रूप है जो पश्चिमी हिन्दी से बहुत कुछ मिलता-जुलता है—उस पश्चिमी हिन्दी से जो मध्यदेशीय भाषाओं की प्रतिनिधि है। कुछ लोग तो यह कहते हैं कि वह पश्चिमी हिन्दी की ही एक बोली है, राजस्थानी की नहीं। निस्सन्देह वह मध्यवर्तिनी बोली है, इसलिए उसके संबंध में किसी विवाद की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती, किन्तु मेरे मत से उसे राजस्थानी के अन्तर्गत सम्मिलित कर लेने में भी कोई द्विविधा नहीं होनी चाहिए। प्रमुख दक्षिण-पूर्वीय बोली मालवी है जो मालवा और उसके

आसपास के देश में बोली जाती है। इसके पूर्व में बुन्देली पश्चिमी (हिन्दी की एक बोली) और पश्चिम में गुजराती है और वास्तव में दोनों के बीच में मध्यवर्ती बोली का स्थान पाये हुए है। दूसरी दक्षिण-पूर्वीय बोली "नीमाड़ी" है। यह मूलतः मालवी का ही रूप है, किन्तु विरहित रूप में आनार्य पहाड़ी जातियों द्वारा बोली जाती है। अपने पड़ौस की भीली और खानदेशी से यह इतनी प्रभावित है कि अब यह पृथक् भाषा है और इसकी अपनी विशेषताएँ हैं।

मरुभाषा

भाषा-विज्ञान के अनुसार मरुभाषा शौरसेनी प्राकृत के परिवार की भाषा है और यह नागर अपभ्रंश की पुत्री है। कुछ विद्वान इसे "गुर्जर" अपभ्रंश पर अवलंबित मानते हैं और कहते हैं कि इसके मूल रूप में नागर, मालव और मध्यदेशीय अपभ्रंशों का सम्मिश्रण भी पर्याप्त रूप में पाया जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि अपभ्रंश का साहित्यिक आविर्भाव विक्रम की प्रारंभिक शताब्दियों में ही होने लग गया था। नवीं शताब्दी तक उसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा हो गई थी। इस समय के "काव्यालंकार" के रचयिता रुद्रट ने अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के समकक्ष स्थान दिया है, किन्तु देश-भेद से उसके अनेक भेद भी स्वीकार किये हैं।

काव्यालंकार में उन्होंने लिखा है—

"प्राकृत संस्कृत मागध पिशाचा भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठो त्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥"

—काव्यालंकार : २।१२

इससे पता चलता है कि उस समय अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप। (स्टेन्डर्ड फार्म) स्थिर नहीं हुआ था और यह आभीरों तक ही सीमित न रहकर अन्य-जातियों और देशों में फैल गई थी।

: २ :

अपभ्रंश भाषा और साहित्य की परम्परा

अपभ्रंश भाषी प्रदेश

दसवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा-भाषी प्रदेश पंजाब और राजस्थान थे। कुछ लोग पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात, सौराष्ट्र आदि को भी अपभ्रंश प्रदेश मानते हैं। ये प्रान्त भी राजेश्वर के समय तक अपभ्रंश भाषा-भाषी रहे होंगे, इस संबंध में कोई आपत्ति की बात दिखाई नहीं पड़ती। विद्वानों का यह भी कहना है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक फैलते-फैलते अपभ्रंश समग्र उत्तर भारत की साहित्य-भाषा हो गई थी। हाँ, किसी दृढ़ प्रमाण के अभाव में उसे समग्र उत्तर भारत की बोलचाल की भाषा कहना उचित न होगा किन्तु यह कहना अनुचित नहीं कि इतनी व्यापक साहित्य-भाषा का संबंध उन सभी प्रदेशों की बोलचाल की भाषा से भी कुछ न कुछ अवश्य रहा होगा। स्थानीय भेदों का होना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

अपभ्रंश प्रदेश पर विचार करते हुए गुलेरीजी ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—"शौरसेनी और भूत भाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वह पुरानी हिन्दी की भूमि अन्तर्वेद, ब्रज, दक्षिण पंजाब, टक्क, मादानक, मरु, त्रवण, परियात्र, दशपुर, और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही अपभ्रंश थी जैसे पहले देश-भेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी।"[1]

इसी समय अर्थात् लगभग एक हजार ईसवी के आसपास भोज ने अपभ्रंश का संबंध गुर्जर से जोड़ा और प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय (१७ वीं शताब्दी) ने इस मत की पुष्टि की। इस मत से यह सिद्ध होता है कि अपभ्रंश पर केवल आभीरों का ही अधिकार नहीं था, अपितु उससे गुर्जरों का भी

---

१. गुलेरी जी, पुरानी हिन्दी, पृ० ११

संबंध था। अपभ्रंश पर एक मात्र आभीरों का अधिकार था, इस बात का खंडन ता नमिसाधु के प्रमाण पर भी किया जा सकता है क्योंकि उन्होंनें आभीरों को अपभ्रंश के भेदों में से एक कहा है।[1]

प्रतिष्ठा-काल

नमिसाधु, वाग्भट्ट आदि के प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ११ वीं शताब्दी के आसपास अपभ्रंश देशभाषा की प्रतिष्ठा पा चुकी थी। साहित्यरूढ़ अपभ्रंश के स्थिरीकरण के पश्चात् पुनः लोक बोलियों के उदय के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। यह क्रिया लगभग ईसा की बारहवीं शती में आरंभ हो गई। कहा जाता है कि हेमचन्द्र तक आते-आते अपभ्रंश केवल पंडित वर्ग की भाषा रह गई। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश देशभाषा अवश्य थी, किन्तु हमेशा नहीं।

अपभ्रंश के दो प्रमुख रूप

जिस समय अपभ्रंश सारे देश की भाषा थी उस समय उसके पश्चिमी और पूर्वी, दो रूप थे। तगारे ने पूर्वी अपभ्रंश का आधार कण्ह और सरह का दोहा-कोश माना है। मात्रा की दृष्टि से यह सामग्री बहुत कम है और इसमें पश्चिमी अपभ्रंश का निर्वाह पर्याप्त रूप में मिलता है, फिर भी उसमें मागधी की कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जो उसके साहित्यिक पद की पुष्टि करती हैं। मध्ययुगीन हिन्दी के स्वरूप सें पछांह और पूरब का भेद पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश के भेद को स्पष्ट कर देता है।

अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएँ

बारहवीं शताब्दी के बाद से ही करीब २०० वर्ष का समय भारतीय आर्य-भाषाओं का संक्रान्तिकाल कहा जाता है। उस समय तक विभिन्न प्रान्तों की आधुनिक भाषाओं का स्वतंत्र साहित्य नहीं मिलता। इस समय साहित्य की भाषा अपभ्रंश थी और लोक बोलियों का प्रादुर्भाव हो चला था। उन बोलियों के मिश्रण से "अपभ्रंशाभास" जन भाषाओं का साहित्य

---

१. देखिये—नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २५

तैयार होने लगा। इस काल की भाषा का समुचित निर्णय कुछ कठिन हो रहा है क्योंकि इस संबंध में बहुत थोड़ी सामग्री उपलब्ध हो रही है और वह भी कुछ शताब्दी बाद की प्रतियों में मिलती है। इसलिए उनकी भाषा को युगप्रतिनिधि भाषा नहीं कहा जा सकता, किन्तु मजबूरी का नाम ही शुक्रिया होने से उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही अपना निर्णय तैयार करना पड़ेगा।

अपभ्रंश की अन्तिम सीमा

अपभ्रंश काव्यों की परंपरा पन्द्रहवीं शताब्दी पर्यन्त चलती रही, वरन् अपभ्रंश की कुछ रचनाएँ तो १६ वीं शताब्दी के अन्त तक की मिलती हैं। प्रादेशिक भाषाओं से प्रभावित काव्य की सृष्टि तो १४ वीं शताब्दी के अन्त में ही होने लग गई थी और पन्द्रहवीं शताब्दी में तो प्रादेशिक भाषाओं ने साहित्यिक क्षेत्र में अपना कदम काफी बढ़ा दिया था।

अपभ्रंश और धर्म प्रचार

ऊपर कहा जा चुका है कि पूर्वी अपभ्रंश का प्रयोग विशेषतः सिद्धों ने सहजयान के प्रचार या अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए किया और पश्चिमी अपभ्रंश का प्रयोग प्रायः जैनों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए किया। इससे यह कहना ठीक ही है कि अपभ्रंश साहित्य की रचनाओं की पृष्ठभूमि प्रायः धर्म प्रचार है।

संक्रान्तिकालीन भाषा

संक्रान्तिकालीन भाषा के संबंध में मतभेद चल रहा है। डा० सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या का मत है कि "अवहट्ट" अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के मेल से जो परवर्ती अपभ्रंश तैयार हुआ उसे पूर्वी देशों में चौदहवीं शताब्दी में "अवहट्ट" कहा गया। यह संकेत विद्यापति ठाकुर की "कीर्तिलता" से संबंधित है। इस संबंध में कुछ लोगों को इस प्रश्न को लेकर आपत्ति हुई है कि यदि कीर्तिलता में "अवहट्ट" का प्रयोग मिलता है तो "पदावली" की क्या भाषा है। यह कहना तो अनुचित होगा

कि दोनों की भाषा एक है और यदि वे दो भाषाएँ हैं तो अलग-अलग क्या नाम होगा।

पिंगल

यह कहा जाता है कि उस समय पश्चिमी भारत की भाषा "पिंगल[1]" के नाम से विख्यात थी। यद्यपि पिंगल शब्द प्राचीन ब्रजभाषा के लिए रूढ़ हो गया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि "प्राकृत पैंगलम्" के लेखक ने, जिसे पिंगल नाम प्रिय है, पिंगल शब्द का प्रयोग "अवहट्ट" के लिए ही किया है। इसका स्पष्टीकरण "प्राकृत पैंगलम्" के सुयोग्य टीकाकार वंशीधर[2] ने किया है।

पुरानी हिन्दी

गुलेरी जी ने अपभ्रंश के लिए "पुरानी हिन्दी" शब्द का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेल कर बनाये गये हैं। भेद-बुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता "ब्रजभाषा" कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक रही हो।

अभिप्राय यह है कि "परिवर्तन-काल" की भाषा को गुलेरी जी ने पुरानी हिन्दी कहा है और गुजराती भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने उसे "जूनी हिन्दी जूनी गुजराती" कहा है। श्री नरोत्तम-दास स्वामी उसे प्राचीन राजस्थानी कहते हैं। हमारी समझ में ये नाम उपयुक्त नहीं जान पड़ते क्योंकि थोड़े हेर-फेर के साथ यह भाषा समस्त उत्तरी भारत में प्रचलित थी और उसी से वर्तमान देश-भाषाओं का विकास हुआ है। वह केवल हिन्दी और गुजराती की ही जन्मदात्री नहीं है, वरन्

१. देखिये—नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६३
२. "प्राकृत पैंगलम्" गाहा १, पृ० ३

उससे अन्य भाषाओं का भी जन्म हुआ है। उसे वास्तव में "उत्तरकालीन अपभ्रंश" कहना सुष्ठु होगा।

यह भाषा सिद्ध-सामन्तयुगीन कवियों की उपर्युक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि है। पश्चिमी हिन्दी लगभग उसी प्रदेश में विकसित हुई जिसमें शौरसेनी अपभ्रंश का चरम उत्थान हो चुका था। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी और राजस्थानी अपने इस काल के रूप में अभिन्न थीं। जब राजस्थानी ने अपनी पृथक् सत्ता प्राप्त कर ली तब भी वह हिन्दी की एक विभाषा की स्थिति में ही रही। यह ठीक है कि नागर अपभ्रंश बंगला आदि के लिए राष्ट्रभाषा थी, किन्तु हिन्दी और राजस्थानी के लिए वह मातृभाषा भी थी।

जैन कवि और अपभ्रंश

पश्चिमी अपभ्रंश की प्राचीनतम रचनाएँ जैन कवियों की हैं। उन्होंने जिस प्रकार संस्कृत भाषा में अनेक काव्य लिखे—अनेक पुराणग्रन्थों का प्रणयन किया, चरित्रादि कलात्मक काव्य-साहित्य का सृजन किया तथा अनेक दूत-काव्यों और रूपक काव्यों का निर्माण किया, उसी प्रकार उन्होंने अपभ्रंश में भी इस प्रकार के ग्रन्थों की सृष्टि की। अतएव अपभ्रंश में महापुराण, पुराण, चरित काव्य, रूपक काव्य, कथात्मक ग्रन्थ, संधिकाव्य, रास ग्रन्थ, स्तोत्र आदि की प्रचुर रचना हुई।

जैनियों के अपभ्रंश को अपनाने का प्रमुख कारण यह था कि जैनाचार्यों ने अधिकांश ग्रन्थ प्रायः श्रावकों के अनुरोध से ही लिखे। ये श्रावक तत्का-लीन बोलचाल की भाषा से अधिक परिचित होते थे, अतः जैनाचार्यों और भट्टारकों द्वारा श्रावकगण के अनुरोध पर जो साहित्य लिखा गया वह तत्का-लीन प्रचलित अपभ्रंश में ही लिखा गया। इन काव्यों के रचयिताओं ने अपने आश्रयदाता श्रावकों का भी स्पष्ट परिचय दिया है। कवि ने कुल एवं जाति के परिचय के साथ-साथ इन श्रावकों का भी विशद वर्णन ग्रन्थांण की प्रशस्तियों में मिलता है।

जिस प्रकार पूर्व भारत में सिद्धों की रचनाएँ सहजयान के प्रचार अथवा

अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए लिखी गईं, उसी प्रकार जैनियों के भी अधिकांश ग्रंथ किसी तीर्थंकर या जैन महापुरुष का चरित्र-वर्णन करने, किसी व्रत का महात्म्य बतलाने या अपने मत का प्रतिपादन करने की दृष्टि से लिखे गये। उनकी अभिलाषा वास्तव में यह थी कि जैनधर्म के नैतिक और सदाचार संबंधी उपदेश जनसाधारण तक अधिक से अधिक पहुँचे।

साधारणतया जैन-प्रबन्ध काव्यों के कथानक की रचना का आधार जैनियों के कर्म-विपाक का सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसके निमित्त वे इतिहास के इतिवृत्त की उपेक्षा करके उसे स्वेच्छा से तोड़-मोड़ देते हैं और इसी की पुष्टि के लिए वे स्थल-स्थल पर पुनर्जन्मवाद का सहारा लेते हैं। अपभ्रंश साहित्य की रचना की पृष्ठभूमि प्रायः धर्म-प्रचार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन जैन साहित्य प्रायः धर्माधार है। जैन कवि पहले धर्म-प्रचारक है, फिर कवि।

अपभ्रंश-कवियों का लक्ष्य

इससे यह तो स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कवियों का लक्ष्य एक धर्मप्रवण समाज की रचना करना था, अतएव उनकी सब कृतियों में धर्मभाव ही प्रधान रहा है। चाहे कोई प्रेमकथा हो, चाहे साहसिक कथा, चाहे किसी का चरित हो, चाहे कोई और विषय सर्वत्र धर्मतत्त्व का प्राधान्य है। ऐसी बात नहीं है कि अपभ्रंश के लेखकों ने लौकिक जीवन एवं गृहस्थ जीवन से संबद्ध कथानक भी लिखे, किन्तु धर्म उनमें भी मुखर है। अपभ्रंश के कवियों में जैनों के साथ-साथ कुछ मुसलमान कवि भी उल्लेखनीय हैं। स्वयंभू, योगीन्दु, धनपाल, हेमचन्द, अब्दुलरहमान, आदि की कृतियों ने अपभ्रंश-रचनाओं में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर रखी है।

अपभ्रंश की परम्पराएँ

अपभ्रंश साहित्य में धर्मनिरपेक्ष लौकिक कथानक को लेकर लिखे गये प्रबन्ध काव्यों की संख्या अति स्वल्प उपलब्ध हुई है, किन्तु ऐसे ग्रन्थ जैन कवियों का प्रोत्साहन न पा सके। जैन कवियों ने जितने रूपक और रास ग्रन्थ लिखे प्रायः उन सबका विषय धार्मिक ही रहा रूपकों में प्रतीक शैली

का प्रयोग रहा। प्रतीकों का उपयोग प्रायः धार्मिक दृष्टि से ही किया गया। रास-ग्रन्थों में धार्मिक पुरुष के चरित्र-वर्णन के अतिरिक्त गुरु-स्तुति, धार्मिक उपदेश, व्रत, दान आदि से संबंधित कथाओं का उल्लेख भी मिलता है। चरित्र-काव्य प्रेमाख्यानक या प्रेमकथापरक हैं। इनमें वर्णित प्रेमकथाएँ या तो उस काल में प्रचचित थीं या उन्हें प्रचलित कथाओं के आधार पर कवियों ने स्वयं अपनी कल्पना से एक नया रूप दे डाला। जो भी हो, उन सुन्दर और सरस प्रेम-कथाओं को उपदेश, नीति और धर्मतत्वों से मिश्रित कर जैन कवियों ने धर्म-कथा बना डाला। यह एक ऐसी परम्परा का प्रादुर्भाव था जो बाद में हिन्दी के सूफी कवियों ने भी अपनाई।

जैन-प्रबन्ध-काव्य

जैन-प्रबन्ध-काव्यों में शास्त्रीय दृष्टि से तो सब तत्त्वों का समावेश रहता है, किन्तु अधिकांश महाकाव्यों की अपेक्षा उनके खण्डकाव्य अधिक प्रौढ़ हैं क्योंकि धर्म के अत्यधिक समावेश से महाकाव्यों का गठन कुछ ढीला पड़ गया और बड़े कलेवर में वह संभल न पाया। जैनों के सन्धि-ग्रन्थ भी अच्छे प्रबन्ध हैं। कुछ सन्धि-काव्य तो बहुत ही प्रसिद्ध हो गये हैं। इनमें किसी पौराणिक या प्रसिद्ध पुरुष का चरित एक या दो संधियों में संक्षेप में वर्णित किया जाता है।

स्फुट काव्य

अपभ्रंश में स्फुट-रचनाओं की भी परम्परा का अभाव था। संस्कृत में जिस प्रकार के उपदेश या सूक्ति-काव्य स्फुट रूप में लिखे जाते थे वैसे ही अपभ्रंश में भी लिखे जाते थे। उनके अतिरिक्त चूनरी, चर्चरी, कुलक, फागु, आदि स्फुट काव्य-रूपों का भी प्रचलन था, किन्तु धर्म का रंग यहाँ भी निखरा हुआ था।

रस

रस की दृष्टि से सभी रस अपभ्रंश में मिलते हैं, किन्तु प्रमुखता शृंगार, वीर और शान्त को ही मिली है। संस्कृत काव्य में भी यही परम्परा थी। सौन्दर्य वर्णन में शृंगार, पराक्रम और युद्ध के वर्णनों में वीर, संसार की

असारता और नश्वरता के चित्रों में शान्त की तरंगें दिखाई देती हैं। शृंगार और वीर के वर्णनों के होते हुए भी प्रधानता शान्त रस को ही मिली है।

भाषा

अपभ्रंश-काव्यों में भाषा की दो धाराएँ बहती दिखाई देती हैं। एक में प्राचीन परिपाटी को लिए हुए साहित्यिक भाषा है जिसमें पदयोजना और अलंकार शैली भी परम्परागत है। दूसरी धारा अपेक्षाकृत अधिक उन्मुक्त और स्वच्छन्द है। उसमें बोलचाल की चलती भाषा है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अपभ्रंश काव्य में रूढ़ि-पालन कम है और प्रत्यक्षानुभूति अधिक है जिसकी अभिव्यक्ति कवियों की भाषा और उनके भावों में भी हुई है। फिर भी अपभ्रंश की एक विशेष प्रवृत्ति रही और वह थी ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की। डा० हरवंश कोछड़ ने ठीक ही कहा है कि भावानुकूल शब्द-योजना के लिये इससे अच्छा कोई साधन नहीं हो सकता। अर्थ की व्यंजना के लिये तदनुकूल ध्वनि-सूचक शब्दों का प्रयोग उत्तर काल में आकर मन्द हो गया था, किन्तु डिंगल शैली में वह फिर उभर आया।

छंद

अपभ्रंश काव्यों में अनेक छन्दों का प्रयोग मिलता है। यह ठीक है कि मात्रिक छन्दों ने इन काव्यों में प्रधानता प्राप्त की है, किन्तु वर्णवृत्तों को एक दम निकालकर नहीं फेंक दिया गया। हाँ, उनका ढाँचा अवश्य बदल गया। अपभ्रंश के कवियों ने संस्कृत के उन्हीं वर्णवृत्तों को अपनाया जिनमें उन्होंने एक विशेष प्रकार की गति देखी। भुजंगप्रयात जैसे छन्दों को जैन कवियों ने बहुत प्रोत्साहन दिया, किन्तु उनमें अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल परिवर्तन कर दिये। छन्दों में अन्त्यानुप्रास डाल कर पद्य में गेयता के गुण की वृद्धि कर दी गयी जिससे अपभ्रंश में एक विशेषता की प्रतिष्ठा हुई। संस्कृत के वर्णवृत्तों ने अपभ्रंश में आकर जो कायाकल्प किया वह वस्तुतः अत्यन्त रोचक सिद्ध हुआ। श्रुति-आकर्षण के कारण अन्त्यानुप्रास का प्रयोग छन्द के मध्य तक में आ गया और यति के स्थान पर भी अन्त्यानुप्रास के आ जाने से छन्द को एक नया रूप मिल गया। इस छन्दकला से अभिभूत होकर ही विद्वान् लोग

कह उठे—"संस्कृत छन्द का एक चरण अपभ्रंश में दो चरणों से चलने लगा।"

नये छंद

अपभ्रंश में अनेक नये छन्द बनाए गए। जैन-कवियों को तो छन्द बनाने का बड़ा चाव था। छप्पय, कुंडलिक, पज्झटिका, रड्डा, रासाकुल, चौपाई चन्द्रायन, दोहा वस्तु आदि छन्दों में अपभ्रंश की मौलिकता स्पष्ट है। अपभ्रंश ने दोहा को जन्म देकर जितना ऊँचा उठाया उतना और किसी छन्द को नहीं उठाया। मुक्तक काव्य में तो दोहा का राज्य रहा। उपदेश, नीति, शृंगार के अतिरिक्त गीत-प्रबन्धों में भी दोहा लोक-प्रिय बन गया।

अपभ्रंश का युग कब समाप्त हुआ और देश-भाषाएँ कब से प्रारम्भ हुई, यह बताना कठिन है, किन्तु यह निश्चय है कि हर्षवर्धन से पूर्व प्रायः समस्त भारत में एक ही भाषा बोली जाती थी, चाहे उसके प्रान्तीय भेद रहे हों। बाद में देश की एकता के नष्ट होने पर भाषा की एकरूपता छिन्न हो गयी और कालक्रम से बोली-भेद बढ़ता गया। इसी भेद में मरुभाषा, ब्रजभाषा, गुजराती आदि का प्राचीनतम रूप निहित है।

लोक-भाषाएँ

ऐसा अनुमान किया जाता है कि दसवीं शताब्दी के आस-पास लोक-भाषाएँ इतनी पनप चुकीं थीं कि उनमें लोक-काव्य की सृष्टि का सूत्रपात हो गया था। यों तो विद्वानों ने वज्रयानी सिद्धों की कुछ उपलब्ध रचनाओं से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि लोक भाषाएँ साहित्यिक अपभ्रंश पर अपनी मुद्रा लगाने लग गयी थीं, किन्तु इसमें तथ्य की उपेक्षा दीख पड़ती है। सिद्धों की अपभ्रंश के टकसाली शब्द लोक-वाणी में घिसते-मिंड़ते लोक-भाषा के सिक्के होने का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं।

हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि और मेरुतुंगाचार्य ने अपनी कृतियों में जिन प्रचलित गीतों और दोहों को अंशतः या पूर्णतः उद्धृत किया है उनकी मौलिक भाषा क्या रही होगी, यह कहना तो कठिन है; फिर भी उद्धरणों की भाषा के रूप और काल का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। इन उद्धरणों में शृंगार,

वीर आदि रसों के साथ-साथ नीति आदि विषय भी मिलते हैं। हेमचन्द्र के के दिए हुए उदाहरणों से यह भी पता चलता है कि उस समय तक रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ लोक-भाषा में बन चुकी थीं। इन्हीं उद्धरणों से यह भी अवगत होता है कि मुंज और ब्रह्म अपने समय के लोक-भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। मुंज की कविता का संबंध ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से जोड़ा जाता है। यह वही मुंज था जो वाक्पतिराज के नाम से प्रख्यात था और धारा का सुप्रसिद्ध विद्वान राजा था।

प्राचीन राजस्थानी का क्षेत्र

कुछ विद्वानों का कहना है कि प्राचीन राजस्थानी का क्षेत्र आरम्भ में गुजरात से लेकर प्रयाग-मंडल तक का विस्तृत भूखंड था और गुजरात, राजस्थान मालवा, ब्रज एवं उसके आसपास का समस्त प्रदेश प्राचीन राजस्थानी की सीमा के अन्तर्गत था। मेरी समझ में यह मत भ्रामक है। यह भाषा न तो प्राचीन राजस्थानी ही थी और न गुर्जर अपभ्रंश ही। जो भाषा उस समय कुछ प्रान्तीय भेदों के साथ साहित्य की भाषा का पद प्राप्त किये हुए थी वह थी शौरसेनी अपभ्रंश और वही राजस्थान के अधिकांश भू-भाग में साहित्यिक भाषा के रूप में ही नहीं, बोली के रूप में प्रचलित थी। यह शौरसेनी अपभ्रंश उस शौरसेनी प्राकृत की आत्मजा थी जो भरतमुनि के समय में भी साहित्यिक भाषा थी और जिसके सम्बन्ध में भरत मुनि लिखते हैं—

"सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः।
शौरसेनीसमाश्रुत्य भाषां काव्येषु योजयेत्॥"

—(नाट्य शास्त्र)

इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रों के जिस भाषा को अपभ्रंश कहा गया है, वह एक विस्तृत और व्यापक भाषा थी। उसका प्रसार सिंध से लेकर बिहार तक था। डा० श्यामसुन्दरदास ने उसका प्रसार गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक माना है। मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के तीन प्रमुख भेद माने हैं—नागर, व्राचड़ और उपनागर। इन तीनों में "नागर" अथवा शौरसेनी

अपभ्रंश ही सर्वाधिक व्याप्त भाषा थी। यों तो पूर्वी भाषाएँ भी अपभ्रंश के पुट से बची नहीं हैं, पर गुजरात, राजपूताना तथा मध्यदेश में बोली जाने वाली भाषाओं में अपभ्रंश के चिह्न विशेषता से दिखायी पड़ते हैं। दसवीं और बाद की शताब्दियों में मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से समस्त उत्तरापथ की भाषा थी। इस मत की पुष्टि के लिए हेमचन्द्र और राजशेखर के मत दिए जा सकते हैं। हेमचन्द्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था इसलिए नागर अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश एक ही भाषा के दो रूप हैं। राजशेखर के मत से कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अन्तर्भेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्र और दशपुर-शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे। प्रादेशिक भेद से शौरसेनी अपभ्रंश के आभीर, मारु, नागर और गौर्जर नाम थे। यदि इसी गौर्जर अपभ्रंश का संबंध किसी रूप में मरुभाषा से जोड़ लिया जाता है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यह गौर्जर अपने प्रादेशिक रूप में समस्त देश की भाषा नहीं थी।

मरुभाषा और अपभ्रंश

जो हो, मरुभाषा पर अपभ्रंश का प्रभुत्व १४ वीं शताब्दी के अन्त तक रहा। इस समय की कविता में अपभ्रंश का पुट न होना असंभव-सा था। विद्यापति ठाकुर जैसे कवि भी "अवहट्ट" में रचना करते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आसपास की कबीर की रचनाओं में भी अपभ्रंश का पुट है। इसी पुट ने कबीर की भाषा को पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी और गुजराती से इतना संबंधित कर दिया है। अपभ्रंश के पुट के बिना यह व्यापकता शायद न आ पाती।

इस अपभ्रंश के संबंध का भाषाओं पर यह प्रभाव पड़ा कि सोलहवीं शताब्दी तक गुजराती, मरुभाषा और ब्रजभाषा में बड़ा भारी साम्य बना रहा। यही कारण है कि १६ वीं शताब्दी के पूर्ववर्ती ब्रजभाषा और गुजराती के कवियों की भाषा में बहुत अन्तर नहीं है। यही संबंध ब्रजभाषा और मरुभाषा में बना रहा। मरुभाषा से ब्रजभाषा का संबंध तो इतना अटूट रहा

कि विक्रम की १९वीं शताब्दी तक राजस्थान में ब्रजभाषा की रचनाओं की धूम रही। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि यह समय ब्रजभाषा के वैभव का था और देश के अधिकांश भाग में ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन थी। काव्य रचनाओं पर पिंगल शास्त्र का शासन था और मरुभाषा की कविता तक "पिंगल" से अनुशासित होती थी।

●

: ३ :

पिङ्गल और डिङ्गल

में समझता हूँ कि जब ब्रजभाषा काव्यभाषा के रूप में राजस्थान पर भी छा गयी तो राजस्थान के वंश परम्परागत कवियों ने आनेवाली परिस्थितियों को बड़ी गंभीरता से देखा और पिंगल बन्धन को तोड़ फेंकने की आवाज उठाई और ब्रजभाषा के विरोध में यह कहा गया कि यह भाषा वीर रस के लिये उपयुक्त नहीं। इसमें वीरों और युद्धों की रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत करने की शक्ति नहीं है। इस आवाज़ का अनुमोदन कवियों के आश्रयदाताओं ने भी किया होगा।

डिंगल

पिंगल के विरोध में उठी हुई ध्वनि ही "डिंगल" की ध्वनि थी जिस पर "पिंगल" का अनुशासन नहीं था। यह एक शैली थी जिसका राजस्थान के राजाओं और चारण कवियों में बड़ा सम्मान था। निस्संदेह इसमें वीररस को साकार करने की अनूठी शक्ति थी, किन्तु अपभ्रंश के कृत्रिम पुट के कारण यह शैली अपनी दुरूहता का निवारण न कर सकी। वीर रस की प्रतिनिधि शैली के रूप में मरुभाषा की इस शैली ने शायद ब्रजभाषा को एक चुनौती दी थी जिसका, मैं समझता हूँ, महात्मा तुलसीदास ने अपनी कवितावली के युद्ध वर्णन में और भूषण ने अपनी सभी रचनाओं में जवाब दिया।

पिंगल और डिंगल का सम्बन्ध

"डिंगल" शैली के प्रचलित हो जाने पर भी राजस्थानी में पिंगल शैली की रचनाएँ होती रहीं। साथ ही यहाँ के वैष्णव भक्त कवियों के साथ-साथ बिहारी आदि अन्य कवियों ने भी ब्रजभाषा और पिंगल परंपरा को आगे बढ़ाया। कहना न होगा कि विक्रम की १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक रा स्थान में दोनों शैलियों का प्रचलन रहा। यहाँ के सन्त कवियों की रच-

नाएँ तो प्रायः ब्रजभाषा में ही हैं, किन्तु उन में राजस्थानी बोलियों के साथ-साथ गुजराती शब्दों का प्राचुर्य है जिससे सामान्य दृष्टि को उनकी भाषा पहचानने में कठिनता होती है।

डिंगल शैली का प्रचलन

कदाचित् राजस्थानी में डिंगल शैली का प्रचलन १७ वीं शताब्दी में हुआ। इसका उद्भव तो पहले ही हो चुका था और अपभ्रंश में उसका बीज खोज लिया गया, किन्तु उस समय उसका संबंध मरुभाषा, चारण जाति, वीररस, ओजगुण आदि से नहीं था। यह संबंध सत्रहवीं शताब्दी के आस-पास ही बना। आरंभ में प्राचीन राजस्थानी की पिंगल शैली और डिंगल शैली में कोई अन्तर नहीं था, किन्तु आगे चल कर डिंगल का रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया। डिंगल के कवि ऐसे शब्दों और रूपों का प्रयोग करने लगे जो जनवाणी के नहीं थे। धीरे-धीरे डिंगल दुरूह होती चली गयी। डिंगल का प्रयोग केवल काव्य में ही होता रहा, इसका उपयोग बोलचाल या व्यवहार में कभी नहीं हुआ। शैली के रूप में डिंगल का युग आज भी समाप्त नहीं हो गया है। यद्यपि राजवाड़ा समाप्त हो गया है, किन्तु आज भी वह ओजमयी शैली चारणों की अपनी सम्पत्ति है।

नाम का प्रयोग

इसमें सन्देह नहीं कि "डिंगल" शैली अपने नाम से अधिक पुरानी है। इस नाम का प्रयोग शायद जोधपुर के कविराजा बांकीदास ने सं० १८७१ में कुकवि बत्तीसी में किया था। वे लिखते हैं :—

"डींगलिया मिलियाँ करै पिंगल तणों प्रकास।"

अर्थात् डिंगल भाषा से मिलकर पिंगल का प्रकाश होता है। कविराजा का यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण था। अस्तु, "डिंगल" नाम को राजस्थान में सबने बड़ी शीघ्रता से स्वीकार किया।

व्युत्पत्ति

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों ने अपने अनुमानों को खूब ढील दी है। इसी प्रकार अर्थ करने में भी अटकलबाजियों से काम

लिया गया है। पत्थर, डमरू, डगर, डिम (बालक) पंगु, शब्द-साम्य आदि अनेक अर्थ डिंगल पर लादे गये हैं। कौनसा ठीक है, यह कहना कठिन है, किन्तु विद्वानों का बहुमत शब्दसाम्य की ओर ही है, अर्थात् पिंगल के साम्य पर "डिंगल" शब्द का प्रचलन हुआ है।

विशेषताएँ

डिंगल की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए महाकवि सूर्यमल्लजी मिस्रण अपने "वंशभास्कर" में लिखते हैं :—

"डिंगल उपनामक कहुंक, मरुबानीहु विधेय।
अपभ्रंश जामें अधिक, सदा वीररस श्रेय॥"

वं० भा०, प्रथम भाग, दोहा ४०

इससे स्पष्ट है कि डिंगल कोई विशेष भाषा नहीं है। मरुवाणी का उपनाम ही "डिंगल" है। इसमें अपभ्रंश भाषा और वीर रस की प्रधानता रहती है, यही इसकी विशेषता है। "मरुभाषा डिंगलभाषेत्येके" (वं० भा० चतुर्थ भाग, पृ० ३०७३) कह कर "डिंगल" से मरूभाषा के अभेद को स्पष्ट कर दिया है। मरुदेश की भाषा[1] को मिस्रण ने अपभ्रंश बाहुल्य बतलाया है।

सूर्यमल्लजी के मत से पिंगल का क्षेत्र यह है :—

"पुर दिल्ली ग्वालेरपुर, बीच ब्रजादिक देश।
पिंगल उपनामक गिरा, तिनकी मधुर विशेष॥"

वं० भा० प्रथम भाग, पृ० १४०, दो ६

इस विवेचन के आधार पर डिंगल और पिंगल का मूल भेद इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) "डिंगल" मरुदेश की अपभ्रंश-बहुला काव्य-वाणी है और पिंगल (वंशभास्कर के अनुसार) दिल्ली से ग्वालियर तक की, जिसमें ब्रजादि प्रदेश भी सम्मिलित हैं, भाषा है।

---

१. मरुदेशीया प्राकृतं अपभ्रंश बहुलम् इति सर्वत्र विवेचतीयम्।

(२) "डिंगल" का वैभव वीररस में है और पिंगल को यह वैभव नहीं मिला।

(३) डिंगल अपभ्रंश-बहुला है और पिंगल पैशाचिकी-बहुला।

(४) पिंगल संस्कृत के छन्दशास्त्र से अनुशासित होती है। उसमें उच्चारण और मात्रा के भेद हैं और शब्द-प्रयोग व्याकरण के नियमों में आबद्ध हैं। "डिंगल में" यह परतंत्रता स्वीकार नहीं की जाती। इससे डिंगल का कवि अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र है।

(५) पश्चिमी राजस्थान की भाषा होने से मरुभाषा के इस रूप पर संस्कृत के नियमों का बंधन न आसका क्योंकि मरुवाणी संस्कृत केन्द्र से दूरस्थ रही।

(६) डिंगल में दोहा छन्द प्रधान है। चारणों के हाथों में उसका बंधन भी शिथिल हो गया है। विराम, यति, गति, गुरु, लघु का प्रयोग सुविधा के अनुसार डिंगल के कवियों ने किया है। यह दोहा डिंगल का गीत भी कहलाता है। इस सम्वन्ध में पिंगल का एक दोहा भी प्रसिद्ध है :—

"निर्मित चारण जाति को, मरु भाषा में होय।
वर्नमात्र जामें विहसि, गीत कहावै सोय॥"

श्री सूर्यमल्लजी ने भी गीत को डिंगल की विशेषता माना है। वे वंश-भास्कर में लिखते हैं :—

"अस्मत्सजातीयेष्वेव प्रसिद्धं गीतनामकं मरुदेशीयं छन्दः।"

—वं० भा० भाग ४, पृ० ३०७३

(७) डिंगल में अलंकारों की बहुलता नहीं है, किन्तु 'वयण सगाई' (वर्ण संबंध) उसकी विशेषता है। यह एक प्रकार का शब्दालंकार (अनु-प्रास) है जिसे डिंगलाचार्यों ने विशेष सामाजिक सिद्धान्तों[1] के आधार पर आविष्कृत किया।

(८) शब्दों की तोड़-फोड़ और अनावश्यक अनुस्वारों का प्रयोग डिंगल

---

१. परस्पर लड़ने वाले राजपूत दलों में से दुर्बल पक्ष सबल पक्ष से अपनी कन्या का संबंध करके वैरभाव मिटाकर संबंध स्थापित कर लेता था।

की एक और विशेषता है।

संभवतः आरंभ में "डिंगल" शब्द भाषा-शैली के लिए प्रयुक्त हुआ होगा, किन्तु शनैः शनैः यह अर्थ शैली तक ही सीमित रह गया। इस प्रकार बाद की काव्य-रचनाओं में दो प्रकार की भाषा मिलती थी—एक तो सहज स्वाभाविक शाषा जिसमें प्रचलित शब्दों का प्रयोग रहता था और दूसरी कृत्रिम डिंगल । इसका मूल ढाँचा ब्रज भाषा का रहा, किन्तु ओज लाने के लिए शब्दों को जान-बूझ कर तोड़ा-मरोड़ा गया और अनावश्यक अनुस्वारों में कृत्रिमता ने अपना प्रदर्शन किया। शायद नामकरण के समय के आसपास ही उक्त कृत्रिमता का सूत्रपात हो गया था।

: ४ :

राजस्थान में साहित्यिक परम्परा का विकास

भाषा के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजस्थान की साहित्यिक परंपरा बहुत प्राचीन है। राजस्थान को अपने कवियों और साहित्य पर गर्व है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि माघ पंडित राजस्थान के रत्न थे। उनकी कविता में राजस्थान की प्रकृति का विलास देखने योग्य है। अपभ्रंश साहित्य की सृष्टि और उसके विकास में सबसे बड़ा योग राजस्थान का ही रहा। यहाँ के अपभ्रंश के वैभव ने एक बार सम्पूर्ण उत्तरी-पश्चिमी भारत के नाम को ऊँचा कर दिया। यहाँ के अनेक पुस्तकालय और जैन-भंडार इसके साक्षी हैं। यहाँ की कविता के ओज को भारत ने गर्व से और विश्व ने विस्मय से देखा है। जिस प्रकार अष्टछाप के कवियों ने वात्सल्य को अग्रणी बनाया, उसी प्रकार यहाँ के चारण आदि कवियों ने वीर को अग्रणी बनाया।

साहित्यिक विषय

राजस्थान का साहित्य बहुत प्राचीन है और साथ ही विस्तृत भी। आरम्भ में राजस्थानी का साहित्य राजपूत राजाओं से सम्बन्धित रहा और उन्हीं के यहाँ पला तथा फला-फूला। जब भारत की अन्य देश-भाषाएं अभी गर्भ में ही थीं, राजस्थानी में एक फलता-फूलता साहित्य विद्यमान था। यहाँ के जैन कवियों ने भी साहित्य की सृष्टि में अपने बड़े-बड़े करिश्मे दिखलाये। ऐसी बात नहीं कि उन्होंने केवल धार्मिक साहित्य का ही सृजन किया हो, वरन् उनकी लेखनी से अनेक प्रेम-प्रबन्ध और गीत भी उत्पन्न हुए। इसलिए प्राचीन राजस्थान-साहित्य गीतों से भी भरा-पूरा है। ये गीत बड़े लोक-प्रिय रहे हैं और साधारण जनता को आकृष्ट करने में इनकी शक्ति अमोघ सिद्ध हुई है।

राजस्थानी कविता

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ठीक ही कहा है कि "राजस्थानी कविता हमेशा जन-प्रचलित रही है। वह पढ़े जाने के लिए नहीं, गाये जाने के लिए लिखी जाती थी। अनेक कविताएँ जन-साधारण की जबान पर रहती थीं और प्रायः उन्हीं के जीवन-व्यापारों से संबंध रखती थीं। वीर रसात्मक कविताएँ प्रायः राजादि से संबंध रखती थीं जो जनसाधारण के सर्वप्रिय वीर हुआ करते थे। ऐसी कविताओं से राजस्थान का प्रत्येक घर परिचित रहता था। लोग पढ़े-लिखे नहीं होते थे, तो भी वे उनके सुनने, याद करने एवं गाने के बड़े प्रेमी हुआ करते थे।

राजस्थानी-गद्य

पद्य-साहित्य ही नहीं, गद्य-साहित्य भी राजस्थानी में आरम्भ से लिखा जाता रहा है। माध्यमिक काल में तो गद्य ने बड़ी भारी उन्नति की। यहाँ तक कि हिन्दी के प्राचीनतम गद्य के उदाहरण राजस्थानी के ही हैं। प्रत्येक रियासत अपनी ख्याति बराबर लिखाती रहती थी और ये ख्यातें गद्य में हुआ करती थी। प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन उनमें रहता था। "मूतां नैणसी" की जैसी ख्यातें राजस्थान के गद्य-साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं। राजस्थान की ये ख्यातें मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास के लिखने में अमूल्य सहायता देंगी और अंधकार में पड़ी हुई अनेक बातों पर प्रकाश डालेंगी। इनके अलावा राजस्थान का कथा-साहित्य भी बहुत विस्तृत है। अनेक कहानियाँ प्रकाश में आ रही हैं और अभी हजारों ही प्रकाश में आयेंगी जो बृहत्कथा संग्रह की कहानियों से किसी प्रकार कम रोचक न होंगी।

साहित्यिक युग

विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से राजस्थान के साहित्य को अनेक युगों में विभक्त किया है। पहला युग विक्रम की १६ वीं शताब्दी तक माना जाता है। इसको प्राचीन राजस्थानी का युग कहा गया है। दूसरा युग माध्यमिक राजस्थानी का युग है जो विक्रम की १९ वीं शताब्दी पर्यंत रहता है और

तीसरा आधुनिक युग है। पहले युग के पूर्वार्द्ध की रचनाओं पर अपभ्रंश का प्रभुत्व रहा, किन्तु १५ शताब्दी में मरुभाषा ने स्वतंत्र सत्ता ग्रहण की, किन्तु उस समय उसका संबंध ब्रजभाषा और गुजराती से बना रहा, इसलिए इन तीनों की रचनाएँ अधिक भिन्न नहीं हैं। लगभग १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ये भाषाएँ अलग-अलग प्रदेशों में सत्तारूढ़ हो गईं, किन्तु राजस्थान में साहित्यिक भाषा के दो रूप रहे—एक मरुभाषा और दूसरी ब्रजभाषा। बाद में इसी मरुभाषा को डिंगल शैली से विभूषित किया गया, किन्तु कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि ब्रजभाषा के मूल ढाँचे में ही डिंगल शैली को फिट किया गया। साहित्य में ब्रजभाषा मरुभाषा का साथ करीब-करीब भारतेन्दु के समय तक देती रही।

राजस्थानी-साहित्य का क्षेत्र

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि राजस्थानी का साहित्य केवल आज के राजस्थान तक ही सीमित नहीं था, अपितु यहाँ के जैन और चारण कवियों के मुख से उसकी तूती मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र तक बोलती रही। मुगल काल में और उसके बाद तक तीन-चार शताब्दियों तक राजस्थानी ने गृहस्वामिनी की भाँति सारा व्यावहारिक कार्यभार अपने ऊपर ले रखा था। मुगल काल में जब फारसी भाषा और लिपि ने राजभाषा बनकर देश की भाषाओं पर प्रभुत्व जमाने का हौसला किया उस समय राजस्थान ने अपने भाषा-साहित्य को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया।

वर्तमान स्थिति

खड़ीबोली के अभ्युत्थान काल में भी राजस्थान का सहयोग कुछ कम नहीं है। राजस्थानी और खड़ीबोली दोनों में रचनाएँ हो रही हैं। देश की स्वतंत्रता से पहले यहाँ के साहित्य के प्रकाश में न आने के कारण विद्यमान थे। आज उनमें से बहुत से दूर होगये हैं, फिर भी अभी कुछ विद्यमान हैं। गरीबी उनमें से प्रधान है। राज्य की ओर से अभी तक इस दिशा में कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया गया। इसलिए प्रायः रचनाएँ अब भी अप्रकाशित ही रह रही हैं। फिर भी यह कहना असमीचीन नहीं है कि खड़ीबोली के

विकास में और उसके साहित्य की वृद्धि में राजस्थान बड़ी तेजी से बढ़ रहा है।

राजस्थान में खड़ीबोली के प्रचार और प्रसार के कारण

यहाँ खड़ीबोली के प्रचार और प्रसार के अनेक कारण हैं: एक तो यह कि यहाँ खड़ीबोली बोलने वाले बहुत से लोग सरकारी सेवा में आ-आकर बस गये हैं। गत पचास-साठ वर्षों से उनकी संख्या दिन-दिन बढ़ती गयी है। परिणाम स्वरूप खड़ीबोली का प्रचलन भी बढ़ गया है। आवागमन की सुविधाएँ मिलने से यहाँ के लोगों के शादी-सम्बन्ध भी अन्य प्रान्तों में पहले से अधिक होने लगे हैं। इससे भी खड़ीबोली का प्रसार हुआ है। यहाँ के लोगों के धार्मिक सम्पर्क मथुरा, प्रयाग, सोरों, हरिद्वार, काशी आदि हिन्दी-केन्द्रों से रहने और इन दिनों उनके सम्पर्क में सरलता और वृद्धि होने से भी यहाँ खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा है क्योंकि दो भाषाओं में से बोल-चाल का माध्यम खड़ीबोली ही रही है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली से भी जो कितने ही वर्षों से यहाँ चली आ रही है, खड़ीबोली के प्रसार में बड़ा योग मिला है। शिक्षित जनता की भाषा प्रधानतया खड़ीबोली ही बन गयी है। लिखित रूप में विचार-विनिमय का माध्यम या तो अंग्रेजी रही या फिर खड़ीबोली। इन सबके अतिरिक्त राजनीतिक कारण ने खड़ीबोली के प्रचार और प्रसार को जो गति दी वह युग की आवश्यकता के अनुरूप है, किन्तु आवश्यकता की पुकार युग ने पचास-साठ वर्ष पहले ही से प्रारंभ करदी थी।

यह दुहराना अनुचित न होगा कि राजस्थान का साहित्य केवल राजस्थानी भाषा में ही हो, ऐसी बात नहीं है, अपितु यहाँ संस्कृत, फारसी ब्रज और खड़ीबोली में रचना करने वाले भी हुए हैं। उन सबकी चर्चा यहाँ करना न तो संभव है और न अपेक्षित ही। अतएव हमारी चर्चा का विषय केवल राजस्थानी, ब्रज और खड़ीबोली का साहित्य रहा है। साथ ही राजस्थानी के संबंध में हुए उन शोध कार्यों का विवेचन भी यहाँ किया गया है जो अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाओं में हुए हैं।

●

: ५ :

राजस्थान का प्राचीन साहित्य

राजस्थान का प्रथम युग भारतीय लोक-भाषा साहित्य का प्रमुख युग है। इसका आरंभ अपभ्रंश की रचनाओं से ही हो जाता है।

साहित्य

पीछे अपभ्रंश के विवेचन के साथ-साथ यह देखा जा चुका है कि प्राचीन राजस्थान-साहित्य के विकास में जैनों और चारणादिकों का प्रमुख हाथ रहा और राजस्थान का साहित्यिक वैभव अपभ्रंश काल से ही प्रारंभ हो गया था। धीरे-धीरे अपभ्रंश ने अपना प्रभाव समेटना प्रारंभ कर दिया था। इसी समय उसने अपने स्वत्व को प्रधानतः पश्चिमी बोलियों को सौंपना प्रारंभ कर दिया था जो क्रमशः राजस्थानी की अपनी सम्पत्ति बनता गया। जब तक राजस्थानी अपभ्रंश में मिल-जुलकर उसके दायित्व को संभालने में लगी रही तब तक गुजराती और राजस्थानी में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा न बन सकी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि उत्तर अपभ्रंश और राजस्थानी में न बन सकी। जैसे-जैसे अन्तर रेखा स्पष्ट होती गयी, लोक-भाषाओं का अन्तर भी बढ़ता गया। जहाँ अपभ्रंश ने अपना सर्वस्व राजस्थानी को सौंप कर साहित्य से अवकाश ग्रहण कर लिया वहीं राजस्थानी साहित्य के मध्य युग का पदार्पण हो गया।

प्राचीन राजस्थानी साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है। भाषा की प्रकृति उस साहित्य को राजस्थान की तत्कालीन लोक-भाषा का साहित्य स्वीकार करने में बाधा डालती है, किन्तु मरुवाणी ने अपनी अँगड़ाइयों से अपभ्रंश के कलेवर में अपना अच्छा रंग जमा लिया था। ऐसे साहित्य के निर्माताओं में वज्रसेन सूरि, शालिभद्र सूर, विनयचन्द, जिनपद्म, शार्गंधर, सोमसुन्दर, नल्लसिंह, नरपति, चन्द और रणमल्ल का नाम विशेष

उल्लेखनीय है।

यहाँ एक नये युग का मोड़ आता है। नया युग अपना नया इतिहास तैयार करता है। सच तो यह है कि राजस्थान की लोक-भाषाओं के उन्मेष के पीछे एक युग का इतिहास है जो उसके साहित्य में प्रकट हो रहा है। वह उस युग का इतिहास है जिसमें कि भौतिक आकांक्षाओं की चरम परिणति रणभूमि पर भैरवी के समारोह में हुआ करती थी। रण-वीरों की समर-केलि में उन्मत्त की सी प्रखरता रहती थी। युद्ध के लिए उन्हें दो प्रकार का मद प्रेरित करता था : भूमि-लोभ और भामिनी-लोभ। इनमें से कभी एक का विलास प्रधान होता था और कभी दूसरे का। कभी-कभी दोनों की संगति से एक नये संगम का प्रादुर्भाव होता था। निस्संदेह यह मदिरा बड़ी मंहगी पड़ती थी, किन्तु तृष्णा की तृप्ति भी एक अनिवार्य रोग था। परिणामतः सामाजिक जीवन की धारा में राजाओं और सामन्तों का जीवन ही अपनी विशेष लहरों में अभिव्यक्त हुआ। सामान्य जीवन प्रायः उपेक्षित रहा। यही कारण है कि तत्कालीन कविता में सामन्ती जीवन ही उद्वेलित हुआ।

इस स्थिति का सूत्रपात हर्षवर्धन के पश्चात् हो गया था, किन्तु राजनीतिक परिस्थितियों का विकल उन्मेष बहुत बाद में हुआ। यद्यपि विदेशियों को बौद्धों के आमंत्रण भारतीय समाज की विशृङ्खलता की सूचना दे चुके थे, किन्तु दसवीं शताब्दी और उसके आसपास धर्म, चिन्तन, जीवन आदि अनेक क्षेत्रों में विक्षेप और विक्षोभ का भयानक वातावरण बन गया था। यहाँ के राजा-महाराजाओं और सामन्तों को दोनों ओर से सतर्क रहना पड़ता था, भीतर की ओर से भी और बाहर की ओर से भी। इसी सतर्कता में उनके जीवन का स्पन्दन था और इसी में थी भू और भामिनी की प्रेरणा। राजाओं के ऐश्वर्य के सामने रण-कौशल के सिवा और कोई विकल्प हो भी क्या सकता था ? और यदि हो सकता था तो वह "मा-जीवन" था जिसको स्वीकार करने से मरना कहीं अधिक अच्छा था। देश और संस्कृति की रक्षा करने के लिए रण-प्रेम का उद्बोधन आवश्यक था और उसके लिए वीर-

भाव का फूँक देना समाज का धर्म था, किन्तु वीर-भाव में फूँक लगाने के लिए सभी उपयुक्त और सक्षम नहीं थे। इस कार्य को चारण-वर्ग के लोगों ने अपने हाथ में लिया। जो स्वयं रण दीक्षित होते हैं। इसीलिए चारणादि की कृतियाँ वीर-रस-प्रधान हैं।

चारण काव्य

यह समझना अनुचित होगा कि चारण-काव्य में वीर-रस के सिवा और कुछ है ही नहीं। वीर-रस का सम्बन्ध शृंगार से भी रहा था। और भी अनेक रस "वीर" के पोषक होकर चारण-काव्य में प्रस्तुत हुए थे, किन्तु उस काल में जिसके लिए सब कुछ था वह था "वीर भाव"—उत्साह। इससे चारण काव्य में उसी की प्रमुखता रही। सहयोगी रसों में शृंगार का उद्वेलन अद्भुत था, किन्तु वह केवल काव्य-प्रणयन के संबन्ध से प्रस्तुत नहीं हुआ था। जिस रण में भूमि-लोभ एक कारण था उसी में भामिनी-लोभ भी एक प्रेरणा थी। वह उस भामिनी का लोभ होता था जिसके सम्बन्ध से काव्यकार संयोग और वियोग के अनूठे चित्र उतारते थे। ऐसी भामिनी एक ओर अपने प्रेमी के उत्साह में निहित रहती थी और दूसरे ओर अपने रति-भाव में।

इसके अतिरिक्त वे वीर जो जनता के मान्य वीर थे, किसी के पति, पुत्र और बन्धु भी थे। पत्नी, माता और बहिन के उत्साह से रणवीर का उत्साहवर्धन होता था, किन्तु वीर-रस की धारा शृंगार, वात्सल्य आदि की लहरों से भी परिपुष्ट होती थी। इसी कारण चारण काव्य में इनका भी योग है, किन्तु वीर को जितना सहयोग शृंगार रस का मिला उतना और किसी का नहीं। रतिभाव ने कभी संचारी बनकर वीर रस की निष्पत्ति में योग दिया और कभी रस रूप में निष्पन्न होकर शृंगार बनकर वीर रस को सहयोग दिया। इतना ही नहीं, चारण-काव्य में नीति, धर्म आदि का पुट भी मिल जाता है और कहीं-कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक संकेतों ने इस काव्य की भूमिका को पुष्ट भी किया है, किन्तु इन सबसे उसके मूल स्वर में वीर रस की परम्परा की प्रधानता में कोई बाधा प्रस्तुत नहीं होती।

जैन-काव्य

इस युग के काव्य-प्रणयन में जैन कवियों का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश में जो साहित्यिक परम्परा विकसित हुई थी उसको राजस्थान के जैन कवियों ने और भी आगे बढ़ाया। ये लोग धर्मप्रिय होने के साथ-साथ कलाप्रिय भी थे, इससे उन्होंने अनेक शैलियों और छन्दों को भी जन्म दिया। उनके प्रबन्ध-काव्य धर्मप्राण होते हुए भी वीर रस से उद्वेलित दीख पड़ते हैं। प्रेमाख्यानों में शृंगार का उद्वेलन होते हुए भी नायक की धर्मवीरता सुरक्षित रही है। शान्त की आभा भी मोहक है। जहाँ चारणों की काव्य-माधुरी को हम वीर और शृंगार के ऊँचे-नीचे तटों के बीच में प्रवाहित देखते हैं वहाँ जैन-भारती को भी इन्हीं तटों के मध्य बहते देखते हैं। यही युग की प्रवृत्ति दीख जाती है, फिर भी जैन-काव्यों में शान्त की लहरों का स्पन्दन अद्भुत है। यों तो उनमें और रस भी मिलते हैं, किन्तु गौण रूप से।

चारण-काव्य और जैन-काव्य का अन्तर

चारण और जैन काव्यों में हमें स्पष्टतः एक अन्तर मिलता है, वह यह कि चारण काव्यों का लक्ष्य रण के प्रति वीरों को प्रोत्साहित करना है और जैन काव्यों का लक्ष्य वीर-चरितों से धर्म को प्रेरित करना है। एक का स्वर "वैयक्ति गौरव" है और दूसरे का "धर्म-पालन"। कभी-कभी ये दोनों स्वर बहुत निकट भी आ जाते हैं, फिर भी अन्तर-रेखा विलीन नहीं होती। जैन-कवि रण-जीवन के प्रति सतर्क नहीं थे, धार्मिक जीवन के प्रति ही सजग थे। वे अहिंसावादी साधु थे, और अपने सिद्धान्तों से दूर जाकर युद्ध की विभीषिकाओं को सम्मानित नहीं कर सकते थे, फिर भी लोक-जीवन के मूल तत्त्व प्रेम में उनकी रुचि थी। जिस प्रेम के बल से उन्होंने शृंगार को परिपुष्ट किया था कदाचित् वह उनके अहिंसा के क्षेत्र से बाहर नहीं था। उन्होंने अपनी कृतियों में प्रेम का जो गहन रूप चित्रित किया है उसका अविकल आधार लोक सापेक्ष्य होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म है और वही सूक्ष्मता पर्याय रूप में व्यापकता है जो प्रेमाभक्ति की सूक्ष्मता और व्यापकता से अभिन्न है।

जैन साधुओं की प्रवृत्ति

कहना न होगा कि जैन-साधुओं की प्रवृत्ति में 'शान्त' संनिविष्ट था, किन्तु लोकाश्रय के बिना उसका प्रणयन दुस्साध्य था, अतएव उन्होंने लोक-पीठिका पर शान्त को प्रतिष्ठित किया। उनके इस प्रयास में जीवन-चरित या चरित-काव्य भी तैयार हुए। इसके परिणामस्वरूप जैन-प्रबन्ध काव्यों में वीर और शृंगार में शान्त का स्वर भी मुखर रहा। प्रेम-बन्धनों के संयोग और वियोग के चित्रों में भी शान्त-समन्वित वीर का रंग जमा हुआ मिलता है।

जैन-कृतियों का स्वरूप

जैन काव्यों में स्फुट-रचनाओं की सृष्टि भी होती रही जिनमें से अधि-कांश वर्णनात्मक थीं। फाग, चौमासा, बारहमासा आदि शैलियों में वर्णन शैली स्पष्ट है। इनमें प्रकृति के सुन्दर चित्रों में जीवन की परिस्थितियों को भी सँजोया गया है। स्फुट रचनाओं में गीतों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। सिद्धों की पद-परम्परा को जैन कवियों ने कुछ विकसित किया। गीत को कोरे अध्यात्म से निकालकर जैन कवियों ने सजीव धर्म में प्रविष्ट कराया और गीतों के निर्माण में दोहा या दोहला की सहायता भी ली। उस नई व्यवस्था में न तो दोहा की केवल दो पंक्तियाँ थीं और न पद का ढाँचा। फिर भी गीतों की पूरी सरसता थी। आगे चलकर इसी गीत शैली को वैष्णव भक्तों ने कुछ और विकसित किया।

छन्द-परम्परा

इस युग के प्रेम-बन्धनों में दोहा या दोहा-चौपाई का ही विशेष प्रयोग रहता था। शायद दोहा-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति जैन-कवियों ने ही प्रच-लित की थी जिसको पीछे से सन्तों ने अपनी रमैणियों में और सूफियों ने अपने प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त किया। प्रबन्धों में सांकेतिक और रूपक शैली का प्रयोग भी जैन कवियों की कलावृत्ति का प्रतीक है। सूफी कवियों ने बाद में जिस प्रतीक शैली को पुरस्सर किया था उसका भाषा-काव्य में अव-तरण जैन-कवियों के हाथ में ही हुआ था।

रस

इस प्रकार इस युग ने लोक-भाषाओं के प्रसवकाल में संस्कृत और प्राकृत से चले आने वाले प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों काव्य-रूपों को अपनाया, किन्तु वीर रस का अप्रतिम प्रवाह इसी युग की परिस्थितियों की देन थी। दोहा जो अपभ्रंश का गीत बना हुआ था, अब एक नई शैली के संयोग से गीत की नई साधना में प्रवृत्त हुआ। फाग, बारहमासा आदि की परम्पराएँ भी लोक-भाषाओं के प्रसवकाल में ही विकसित हुईं। यह युग साहित्य की प्रवृत्तियों पर अपनी छाया उस समय तक डालता रहा जब तक कि तैमूरलंग के क्रूर आक्रमण और सिकन्दर लोदी के दुर्नय ने लोक-जीवन को निराशा से आवृत न कर लिया।

●

: ६ :

राजस्थान का मध्ययुगीन साहित्य

राजस्थान साहित्य का मध्ययुग अशान्ति और निराशा का युग रहा, किन्तु इस युग में चारणों की वाणियाँ राज-वीरों को प्रोत्साहित करती रहीं। साहित्यिक दृष्टि से यह युग बहुत सम्पन्न था और राजस्थानी का असली युग यहीं से प्रारम्भ होता है। इस युग के प्रमुख कवि ये हैं—शिवदास, कृष्णदास, अग्रदास, नाभादास, सूजाजी, मीरांबाई, छीहल, आशानन्द, जेसरदास, केशवदास, अल्लू, जल्ह, पृथ्वीराज राठौड़, सांयाजी, दुरसा, कुशललाल, परशुराम, माधोदास, जसवंतसिंह, जान, नैणसी, नरहरिदास, कल्याणदास, साईदान, डूंगरसी जग्गा, किशोरदास, गिरधर, जोगीदास, कुशलधीर, कुलपति, मान, वृन्द, बादर, हरिनाम, दयाल, मुरली, बारहठ ओहथ, सिढायच, चौभुजा, फरसा, दूदा, हरसूर, नागरीदास, वीरमाण, करणीदान, हितवृन्दावनदास, सूदन, सांदूमाला, घघवाड़िया, मोका, ठाकुरसी देवावत, तेजसी, सांकर, नंदराम, खेतसी, दलपतिराय, गणपति कायस्थ, पदम तेली, रतनाखाती, बंसीधर, देवकर्ण, हरिचरणदास, सुन्दर कुंवरि, उम्मेदराम, जोधराज, रतनू धरमदास, वीठू मेहो, आसियो रतनसी, धघवाड़ियो खींवराज, लालस खेतसी, मंगरो ढाढी, बुधसिंह, हम्मीर, सोमनाथ, बिहारी, प्रतापसिंह, कृपाराम, मानसिंह, ओपाजी, पद्मा चारणी, झीमीचारणी, बोरठ नरहरदास, कविया तिलोकदास, लूणकर्ण, नेता, गरीब बाई, मंछाराम, कृष्णालाल, रामदान, जवानसिंह, चंडीदान, किशनजी, दीनजी, गाडण झांझण, नारायणदास, बगसा गोवर्धन, गाडण चोला, गेपा तूंकारा, लाखा, सांदू कूंभो, गाडण खेतसी, गाडण रामसिंह, मीसण आनंद, पद्माकर लल्लभाट, सूर्यमल्ल, दादूदयाल, बखनाजी, रज्जबजी, गरीबदास, जगन्नाथदास, जनगोपाल, जगजीवन, दामोदरदास, माधोदास, भीखजन,

संतदास, सुन्दरदास, खेमदास, राघवदास, बाजीदजी, मंगलराम, चरणदास, दयाबाई, सहजोबाई, रामचरण, हरिरामदास, रामदास, दयालदास, दरिया-साहब, बालकराम, हरिदास, कुशललाभ, करणीदान, जिनभद्रसूरि, उदय-राज, जसराज, जीतलम।

मध्ययुग के कवि भाषा की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—एक तो राजस्थानी के कवि, दूसरे ब्रजभाषा के कवि और तीसरे सधुक्कड़ी भाषा या मिश्रित भाषा के कवि। सब सन्त कवियों ने सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है जिन्होंने प्रमुखतः दोहा छन्द का या पदों का जिनकी पर-म्परा सन्त काव्य में बहुत प्राचीन है, प्रयोग किया है। इनमें से दादू, बखनाजी, रज्जबजी, गरीबदास, जगन्नाथदास, जनगोपाल, जगजीवन, दामोदरदास, माधोदास, भीखजन, संतदास और सुन्दरदास सन्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। इनकी भाषा मिश्रित है और कृष्णदास, अग्रदास, नाभादास, परशुराम, माधोदास, जसवंतसिंह, जान, नरहरिदास, गिरधर, कुलपति वृन्द, हरिनाम, दयाल, मुरली, नागरीदास, वीरभाण, हित वृन्दावनदास, सूदन, देवकर्ण, हरिचरणदास, सुन्दरकुँवरि, उम्मेदराम, बुधसिंह, सोमनाथ, प्रतापसिंह, कृपाराम, पद्माकर मानसिंह और बिहारी की भाषा पर ब्रजभाषा का रंग स्पष्ट है। इनमें से अधिकांश में ब्रजभाषा को कृष्ण-भक्ति के आग्रह से अपनाया था और कुछ ने युगमान्य साहित्यिक भाषा के सम्बन्ध से। इनके अतिरिक्त अन्य कवि राजस्थानी के थे।

कवि-वर्ग

उक्त कवियों की सूची के आधार पर राजस्थान के मध्य युग तक के साहित्यकारों में हमें पाँच वर्ग मिलते हैं: (१) ब्राह्मण वर्ग (२) चारण वर्ग, (३) राज वर्ग, (४) जैन वर्ग और (५) संत वर्ग।

ब्राह्मण-वर्ग

(१) ब्राह्मण वर्ग के साहित्यकारों ने अपना संबंध विशेषतः संस्कृत साहित्य से ही रखा। या तो यहाँ माघ जैसे महाकवि हुए, या बैताल पच्चीसी, सिंघासन बत्तीसी, सूआ बहोक्षरी, हितोपदेश, पन्चाख्यान, आदि

कथाओं या भागवतपुराण, नासिकेत पुराण आदि पुराणों या भगवद्गीता रसतरंगिणी, विल्हण पन्चाशिका, रसरत्नाकर, रामायण और महाभारत आदि ग्रंथों के अनुवाद करने वाले हुए। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने वैद्यक, ज्योतिष, संगीत एवं मन्त्रशास्त्र की स्फुट रचनाएँ भी कीं। धर्मशास्त्र संबंधी ग्रन्थों के प्रणयन में भी प्रायः ब्राह्मणों का ही हाथ रहा। ब्राह्मण-युग का अवसान होते ही ब्राह्मणों की स्थिति गिर गयी और राजाओं एवं धनिकों के आश्रय से चारणों और जैन यतियों का अभ्युदय हुआ। पद्माकर, बिहारी आदि कवियों के समान इस वर्ग में थोड़ी ही विभूतियाँ अवतीर्ण हुईं। अपने पतन काल में ब्राह्मणों ने या तो पूजा-पाठ की वृत्ति ग्रहण कर ली या प्रतिलिपि करके अपना उदर-पोषण करने लगे। राजस्थान में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति का सबसे अधिक पतन मुगल काल में हुआ जिसका सूत्र-पात बौद्धकाल में ही हो गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि राजस्थान का ब्राह्मणी साहित्य या तो संस्कृत में है या अनुवादों के रूप में जिसमें भाषा के सिवा मौलिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। अनुवादों की भाषा पर भी मूल का भारी प्रभाव रहने के कारण हम ऐसी रचनाओं को कोई महत्त्व नहीं देते और संस्कृत की चर्चा हमारा विषय नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

चारण-वर्ग

(२) चारणवर्ग—राजस्थानी के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के निर्माण में इस वर्ग का प्रमुख हाथ है। इनकी काव्य-रचनाओं में वीर-रस की प्रधानता है। ये लोग वंश-परंपरागत कवि थे। काव्य-सृजन इनकी आजीविका का साधन भी था। राज सभाओं या अन्य स्थानों में काव्य सुनाना, अवसर पर वीरों को रण के लिए सजग करना, कविता-कामिनी को प्रायः कण्ठ में सुरक्षित रखकर उसका प्रचार और प्रसार करना आदि कार्य इन लोगों के जीवन के प्रमुख अंग थे। राजस्थान में वीर काव्य के सृजन, रक्षण एवं प्रसार का अधिकांश श्रेय इन्हीं लोगों को है। युद्ध-स्थलों में विद्यमान रहने के कारण इनके युद्ध-वर्णनों में अनुभव की गहरी चोट है।

इसके अतिरिक्त राजस्थान-गद्य का प्राय: सम्पूर्ण श्रेय इसी वर्ग के लेखकों को है। ख्यात, बात, कथा, कहानी, वंशावली आदि नामों से विख्यात राजस्थानी गद्य प्राय: इन्हीं की लेखनी की देन है। राजस्थान के गद्यसाहित्य की महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए नेणसी की ख्यात ही पर्याप्त हैं, किंतु बाँकीदास और दयालदास की गद्य-रचनाओं ने उसके वैभव में चार चाँद लगा दिए हैं। बाँणीदास की ऐतिहासिक बातों का संग्रह एवं दयालदास की "राठोड़ाँरी ख्यात" राजस्थान-साहित्य के अन्तर्गत गद्य की अमरकृतियाँ हैं। मिस्रण सूर्यमल्ल के "वंशभास्कर में टिके हुए राजस्थानी के सरस गद्यांश तथा उनके साहित्यिक पत्र जो उन्होंने समय-समय पर राजस्थान के राजाओं को स्वाधीनता के सम्बन्ध में सजग और उत्साहित करने के अभिप्राय से लिखे थे, राजस्थानी गद्य की परंपरा को आगे लाने में ही अपना महत्व नहीं रखते, प्रत्युत भारतीय स्वतन्त्रता का इतिहास बनाने में भी बड़े महत्व के सिद्ध होंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिकांश चारण-साहित्य राजाओं से संबंधित है। क्यों न हो, चारणों का राजाओं से गहन संबंध जो था। राजा के जन्म की बधाई, राज्याभिषेक के गीत, विवाहकालीन मंगल-गान, रण-भूमि के वीरगान और गुण और दान के स्तुति-गीत—इन सबकी सृष्टि में चारण-वर्ग के लोगों का स्वर मुखरित रहता था। मध्ययुग में राजपूतों और चारणों का सम्बन्ध अधिक गहन हो गया था और शायद यह कहना अनुचित न होगा कि चारण राजपूत-जीवन का प्राण बन गया था। यदि किसी राजा के जीवन की सही तस्वीर कोई उतार सकता था तो वह चारण था। इसी कारण प्राय: सभी राजपूत राज्यों के इतिहास चारणों के ही द्वारा लिखे गए हैं।

राज-वर्ग

(३) राजवर्ग—इस वर्ग के कवियों ने भी राजस्थानी गौरव को बढ़ाया है। उनकी रचनाएँ एक दो नहीं, अनेकों हैं। जोधपुर के महाराज यशवन्तसिंह तथा बूंदी के महाराज बुधसिंह तो आचार्य कोटि के महाकवि

हुए हैं। इन्होंने साहित्य के नवीन लक्षण ग्रन्थों तक का निर्माण किया है। महारानी मीरांबाई के भक्ति-रस से उद्वेलित गीतों से भला किसका हृदय सरसित नहीं हो जाता और नागरीदासजी की सरस रचनाओं से किस साहित्यकार और भक्त का परिचय नहीं है ? वे तो ब्रजभाषा के महाकवियों में गिने जाते हैं। बीकानेर के कुँवर पृथ्वीराज राठोड़ जो राजस्थानी में पीथल नाम से अमर हैं, तलवार और कलम दोनों के समान रूप से धनी थे। उनके काव्य को अनुभव का आधार, अन्तःकरण की प्रेरणा और भाषा का वरदान प्राप्त था। इसी कारण उनकी बेलि में श्रृंगार और वीर, दोनों रसों का उत्कर्ष है। यह कहना भी शायद अनुचित न होगा कि राजस्थानी-कविता की श्रृंगार-रस-धारा के प्रवाह में इन राज-वर्ग के कवियों का प्रमुख योग रहा। विलास के सम्पूर्ण भोग-भाव इनकी कविताओं में साकार हो गए हैं और वीर रस के तो ये ही नायक और ये ही प्रवक्ता थे। फिर उसका वर्णन अधिक सजीवता से उनके सिवा और कौन कर सकता था ? चारणों कविताएँ इन लोगों को भी काव्य-रचना की ओर प्रेरित किया करती थीं। एक वर्ग से दूसरे को प्रोत्साहन मिलता था, क्यों न होता——विद्वान् ही विद्वान् का आदर करता है।

जैन-वर्ग

(४) जैनवर्ग——इस वर्ग ने राजस्थान के साहित्य की अपभ्रंश काल से ही सेवा की है। यों तो जैन कवियों की रचनाएँ संस्कृत और प्राकृत में भी मिलती हैं, किन्तु राजस्थान की लोक-भाषा के क्षेत्र में उनका साहित्यिक योग साहित्य के इतिहास का एक विशेष अध्याय है। राजस्थान के जैन-भंडार-इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में नित्य नवीन सामग्री प्रदान कर रहे हैं और यह निश्चय है कि चारणों के बस्तों और जैन-भंडारों का जब तक सम्यक् पर्यवेक्षण न होगा, राजस्थान के साहित्य का एक बहुत बड़ा अंग उपेक्षित रह जाएगा। गुजरात के विद्वानों ने इन्हीं भंडारों में से अपनी भाषा का इतिहास खोज निकाला है। राजस्थान के लोक-साहित्य को लिपि-बद्ध करने का अधिकांश श्रेय जैन-साधुओं को ही है।

जैन-भंडारों में लोक-साहित्य के अनेक दूहे, कथाएँ और गीत मिलते हैं, इनमें भरे हुए प्रबन्ध, मुक्तक, कथा, गीत, रास, फाग, आदि को देखकर राजस्थान-साहित्य के वैविध्य का भी परिचय मिल जाता है। इनके अतिरिक्त इन भंडारों में अनेक प्राचीन सूत्रों के भावार्थ और तदीय टीकाएँ भी प्रचुरता से मिलती हैं। इन भंडारों की गवेषणा से सूरसागर और मानस की टक्कर के ग्रन्थ-रत्न भी समक्ष आ सकते हैं।

राजस्थान के जैन-कवियों ने केवल धार्मिक या आध्यात्मिक रचनाएँ ही लिखी हों, ऐसी बात नहीं है। उनकी लेखनी ने भक्ति और प्रेम, संयोग और वियोग आदि की मधुर कल्पनाओं से सरसित रचनाओं को जन्म देकर भारतीय साहित्य की चिर कल्पित निधि में मौलिक योग दिया है।

संत-वर्ग

(५) संतवर्ग—राजस्थान इस वर्ग के अनेक कवियों की जन्म-भूमि है और अनेकों ही इस भूमि से संबंधित रहे हैं। यह संबंध या तो मत-प्रचार के निमित्त रहा है अथवा देशाटन आदि के कारण रहा है। यह धरा गिरिधर की दीवानी मीराँ की वाणी से रसोन्मत्त रही है। दादू की वाणी का उन्मेष इसी धरा पर हुआ था। सुन्दरदास, चरणदास, हरिदास, जसनाथ, आदि महात्माओं की वाणियाँ यहीं से प्रवाहित हुई थीं। पाबूजी, रामदेवजी, हड़बूजी, गोगोजी, जांभोजी, तेजोजी आदि अनेक संतों ने इसी वीरभूमि को अपनी कृपा से आप्लावित किया था।

यहाँ संत समाज का अब भी बहुत समादर है। इसी कारण यहाँ की मरुनाम धारिणी वसुन्धरा के उज्ज्वल रत्नों ने अपने उर की सरस भावभूमि पर अनूठी प्रेम-परंपरा को प्रश्रय दिया था। रामानन्दी, दादूपंथी, कबीर-पंथी, हरिदासी, लालदासी, चरणदासी, रामसनेही, नाथपंथी, निरंजनी आदि अनेक पंथों ने न केवल अपनी-अपनी सरस वाणियों से इस वीरप्रसविनी भूमि का अभिषेक किया है, अपितु शतियों से यहाँ के साहित्य को भी समृद्ध बनाया है। दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणों से इन वाणियों का बहुत महत्त्व है। इस साहित्य की बहुत सी सामिग्री अनेक

गृहस्थियों और विचरते हुए साधु-संन्यासियों के तंबूरों, सितारों और खड़तालों की स्वर-लहरियों में लहराती सुनाई पड़ती है।

गद्य-पद्य

राजस्थान साहित्य गद्य और पद्य, दोनों रूपों में मिलता है, इसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है, किन्तु राजस्थान का गद्य साहित्य अपने आकार और प्रकार में मध्यकाल में अधिक विकसित हुआ। प्राचीन गद्य के उदाहरण केवल जैन-साहित्य में मिलते हैं। श्री नरोत्तम स्वामी ने अपने "राजस्थानी साहित्य" नामक लेख में प्राचीन गद्य का परिचय देते हुए लिखा है—"राजस्थानी का प्राचीन गद्य जैन-लेखकों का लिखा हुआ है। अब तक प्राप्त उदाहरणों में सबसे प्राचीन उदाहरण सं० १३३० का है। संग्रामसिंह की बाल-शिक्षा (सं० १३३६) संस्कृत का एक बालोपयोगी व्याकरण है, जिसमें उदाहरण, तथा शब्दों और प्रयोगों के अर्थ, राजस्थानी में दिए हुए हैं। इस प्रकार की अनेक रचनाएँ आगे चलकर औक्तिक कहलायीं। ऐसी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कुलमंडल का मुग्धावबोध-औक्तिक (सं० १४५०) है। इनसे उस समय की बोलचाल की भाषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।"

राजस्थानी गद्य के प्रेरक धार्मिक गद्य

राजस्थानी गद्य-साहित्य की परम्परा को जैन-साधुओं ने धर्मकथाओं के रूप में आगे बढ़ाया। इन कथाओं में अधिकांशतः जैन धर्म के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्याएं हैं और ये जैन-सिद्धान्तों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इन कहानियों के रूप में प्रस्तुत की हुई व्याख्याओं को "बालावबोध" नाम से अभिहित किया गया। इन रचनाओं में "षडावश्यक-बालावबोध" (सं० १४१२) सबसे अधिक प्राचीन है। इसके प्रणेता तरुणप्रभ सूरि थे।' "राजस्थानी साहित्य" में तरुण प्रभ को सर्वप्रथम प्रौढ़ गद्यकार माना गया है। अन्य बालावबोधकारों में सोमसुन्दर सूरि (१४३०-१४९९) मरुसुन्दर, और पार्श्वचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। धर्मकथाओं में सर्वोत्तम कलाकृति निकली माणिक्यचन्द्र सूरि के हाथों से और यह थी "पृथ्वीचन्द्र-

चरित्र" जिसकी रचना सँ० १४७० में हुई। इसकी भाषा संगीतमय और वाक्यान्त सतुक हैं। इस प्रकार की रचनाओं ने चारणी साहित्य को वचनिका और दवावैत की ओर प्रेरित किया।

ऐतिहासिक गद्य

फिर तो ख्याल, बात, विगत, हाल, हकीकत, पीढ़ी, वंशावली दवावैत, वचनिका, इतिहास और कथा की गद्य गंगा बह निकली। ध्यान रखने की बात है कि वचनिका, दवावैत ख्यात, बात, जीवनी, आखपना, वंशावली, पट्टावली, पीढ़ियावली, दफ्तर, वही, विगत और हकीगत में ऐतिहासिक सामग्री रहती है, इसलिए इन रचनाओं को ऐतिहासिक साहित्य भी कह सकते हैं। हाँ, आख्यानोंमें इतिहास के साथ लोक कल्पना और अलौकिक क्षेपकों का मिश्रण भी हो गया है। दफ्तर में डायरी शैली से किसी घटना का वर्णन होता है। वचनिका चंपू शैली की रचना होती है। ऐतिहासिक वर्ग की प्रमुख गद्य रचनाएँ ये हैं :—(१) शिवदास कृत अचलदास खीचीरी वचनिका, (२) राठौर रतनमहेसदाससौत री वचनिका, (३) नरसिंहदास गौड़री दवावैत, (४) जिन-सुख सूरि दवावैत, (५) जिननाम सूरि दवावैत, (६) नैणासी की ख्यात, (७) बाँकीदास की ख्यात, (८) दयालदास की ख्यात, (९) दलपतिविलास, (१०) नागौर री हकीकत, (११) हिन्दुस्तान रे सहरांरी विगत, (१२) दिल्ली रै पातसाहाँ री विगत, (१३) जैपुर में सैव बैष्णवाँरो झगड़ों हुवौ तैरो हाल, (१४) जोधपुर रै राठोड़ा री पीढ़िया (१५) पढ़िहारा री पीढ़िया, (१६) मारवाड़ री ख्यात, (१७) औरंगजेबरी हकीकत। हकीकत और हाल की एक शैली पत्रों में भी मिलती है। शाहजहाँ की मृत्यु के संबंध में जयपुर के महाराजा को उनके चर द्वारा लिखा हुआ पत्र वस्तुतः पत्रशैली में हकीकत है।

बात साहित्य

धार्मिक और ऐतिहासिक गद्य के आतिरिक्त राजस्थानी गद्य का एक तीसरा रूप और है जिसके अन्तर्गत आती हैं यहाँ की बातें या कहानियाँ। इनके सैंकड़ों संग्रह मिलते हैं। जिनमें धर्म, नीति, वीरता, प्रेम, हास्य, करुणा,

राजा-प्रजा, देव-दैवी, भूत-प्रेत, ठग, चोर, डाकू, आदर्श, यथार्थ, कला आदि के अनेक विषयों का स्पर्श रहता है। ऐसी कुछ प्रमुख एवं प्रसिद्ध कहानियाँ ये हैं :—"राजा भोज, माघ पंडित और डोकरी री बात," "राजा भोज अर खाफरै चोर-री बात," 'सपणी चारणी री बात," "फोफाणंद-री बात" "ऊमा भटियाणी-री बात," "मूमल मंहदरै-री बात," "जसमा ओडणी-री बात," "चंदण और मलियागिर-री बात," "चोबोली-री बात," "पलक दरियाव-री बात," "राजकुमार कुतबदी-री बात" और खुदाय वावली री बात।" सारांश यह है कि बात साहित्य के तीन प्रधान अंगों में से एक है जो राजस्थान के गद्य-साहित्य का प्रतिनिधि है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की दूहा और गीत राजस्थानी पद्य-साहित्य के प्रतिनिधि हैं।

पद्य

आधुनिक काल से पूर्व की रचनाओं का अवलोकन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि राजस्थान का पद्य-साहित्य प्रमुखतया दो रूपों में मिलता है : प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत वह सब काव्य आ जाता है जिसे साधारणतया प्रबन्ध, कथा, रास, रासो, भास, चरित और चौपई नाम से पुकारते हैं। इनके प्रमुखतया तीन रूप मिलते हैं, वीर-प्रबन्ध, प्रेम-प्रबन्ध तथा मिश्रित प्रबन्ध। इनमें से बहुत से महाकाव्य हैं और बहुत से खंडकाव्य। राजस्थानी का मुक्तक काव्य दो रूपों में मिलता है : वर्णन मुक्तक के रूप में और सामान्य या स्फुट मुक्तक के रूप में। वर्णन मुक्तक के अन्तर्गत फाग, बारहमासा, चौमासा, गीत, गजल आदि वर्णनात्मक रचनाएँ होती हैं। स्फुट रचनाओं के अन्तर्गत दोहा, सोरठा, कुंडलियाँ आदि के संग्रह मिलते हैं।

प्रबन्ध काव्य

राजस्थान साहित्य में प्रबन्धों की परंपरा बहुत पुरानी है, किन्तु इस परंपरा का समुचित निर्वाह भरत-बाहुबलि-रास से समझना चाहिए। इस रचना को जैन कवि शालिभद्र सूरि ने सं० १२४१ में खण्डकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया था। प्राचीनकाल और मध्य युग के अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों

में यहाँ के बहुत से प्रबन्ध काव्य भी भंडारों और पुस्तकालयों में दब पड़े हैं। उनमें से, जो अब तक अवगत हो सके हैं, कुछ प्रमुख प्रबन्ध काव्य ये हैं:—

(१) हम्मीर रासो, (२) हम्मीर काव्य, (३) खुमाण रासो, (४) विजयपाल रासो, (५) पृथ्वीराज रासो, (६) बेलि क्रिसन रुक्मणी री, (७) राउ जूरतसी रा छन्द, (८) राम रासो, (९) हर-पार्वती री बेलि, (१०) नाग-दमण, (११) वीरमायण, (१२) ग्रन्थ-राज, (१३) वरसलपुरगढ़ विजय, (१४) बाँकीदास ग्रंथावली, (१५) सूरज प्रकाश, (१६) वंशभास्कर, (१७) रतनजस प्रकाश, (१८) रुक्मणी-हरण, (१९) गुणाजोधायण, (२०) सुरदातार रो संवाद, (२१) गुणविजै व्याह, (२२) जैतसीराम और (२३) निमंधाबंध, (२४) रघुनाथ रूपक।

राजस्थान के प्रबन्ध काव्य प्रधानतः दो रूपों में मिलते हैं : वीर प्रबन्ध रूप में, और प्रेम-प्रबन्ध रूप में। पहले प्रकार के प्रबन्धों में नायक की युद्ध वीरता का वर्णन रहता है जिसमें प्रशंसा का स्वर प्रखर होता है। दूसरे प्रकार के प्रबन्धों में संयोग और वियोग के मनोहारी चित्र रहते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इनमें अन्य रस होते ही नहीं। अवश्य होते ह। इसका ज्वलन्त उदाहरण पृथ्वीराज की "बेलि" है।

गीत काव्य

राजस्थान के गीतों को हम प्रधानतः लोक गीत कह सकते हैं। गीत राजस्थानी का प्रमुख छन्द भी है। गीत छन्दः में मिलने वाली ऐतिहासिक रचनाएँ असंख्य कही जा सकती हैं। एक-एक गुट में सैकड़ों गीत भरे पड़े हैं और ऐसे गुट के न जाने कहाँ-कहाँ, किस-किस कोने, मटके और आखे में, बिखरे पड़े हैं। इनमें से अनेक गीतों में राजस्थान का इतिहास स्वरित होता है और हमारी संस्कृति और सभ्यता का चित्र खिंचा हुआ मिलता है।

सामान्यतः गीत उस पद्यात्मक रचना का परिचय देता है जो गाई जाती है, किन्तु राजस्थानी गीत दूसरे प्रकार के हैं। इनके लिखने की एक विशेष शैली दीख पड़ती है। एक गीत में तीन या तीन से अधिक दोहले (स्टेन्जाज) होते हैं और पूरा गीत किसी एक घटना या तथ्य का प्रकाशन करता है।

उसी तथ्य को प्रत्येक दोहला दुहराता है, किन्तु ऐसे कौशल से कि सुननेवालों को उस दुहरावट का आसानी से पता नहीं चलता।

ये गीत अनेक विषयों पर रचे गये हैं। राजस्थान के गीत जिस प्रकार शृंगार और भक्ति के भावों से लहराते मिलते हैं वैसे ही वीर-वर्णनों से भी, किन्तु यहाँ के वीर-गीतों की संख्या बहुत है। इनका लक्ष्य मूलतः मानव-कीर्ति को अमर बनाना रहा है। यह तथ्य "गीतड़ा के भीतड़ा" कहावत से भी उद्घाटित हो जाता है। इनके बनाने में शायद उतनी कला नहीं थी जितनी पाठ में। एक प्रकार से ये गीत राजस्थान के वेदमंत्र थे जिनका प्रभाव नर-नारी-समाज पर समान रूप से पड़ता रहा है। जौहर की अनेक घटनाएँ गीत की मोहन-शक्ति का साक्ष्य दे रही है।

गीत-भेद

राजस्थान के गीतों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं: एक तो पुरुष-गीत और दूसरे नारी-गीत। दूसरे प्रकार के गीत प्रमुखतः यहाँ की नारियों की कंठ-सम्पत्ति हैं। इनमें कोमल भावों की बड़ी सरस अभिव्यक्ति हुई है। दोनों प्रकार के गीतों को पढ़ने या सुनने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि राजस्थान के ये गीत पूर्व या पश्चिमी की किसी भी आधुनिकतम कसौटी पर पूरे उतर सकते हैं। अपनी मर्म-स्पर्शिनी कोमल भावनाओं से शायद ये किसी देश से होड़ कर सकते हैं।

गीत-विकास

गीतों ने प्राचीनकाल से ही अपनी कला का विकास किया है। जो गीत प्राचीनकाल में शायद 'दूहा' तक ही सीमित था, उसने न केवल दूहा के क्षेत्र में ही अपने रूप और प्रकार का विकास किया, अपितु अनेक नये रूपों में प्रकट हुआ। फारसी आदि से प्रेरणा लेकर राजस्थान के गीत ने जन-मन में अपने ऐश्वर्य और वैभव की धाक जमा ली। उसने अपने को 'खयाल' तक प्रसारित कर दिया। सैकड़ों ख्याल बने और जनता ने उनका मुग्ध होकर अभिनन्द किया। हेड़ाऊ-मेरी का ख्याल ख्याल की प्रसिद्धि का प्रमाण दे रहा है।

गीत-संख्या

धीरे-धीरे विकसित होकर मध्ययुग के अन्त तक राजस्थानी गीत ने अपने भेदों का इतना विकास कर लिया कि भेद-संख्या ६४ तक आ पहुँची। जहाँ 'रण-पिंगल' में गीत के ३३ भेद मिलते हैं, 'रघुनाथ रूपक' में वे ७२ हो जाते हैं और 'रघुवर-जस-प्रकास' उसके ६४ भेदों का परिचय देता है। सुनने में तो भेदों की संख्या ६६ तक आ पहुँची है, किन्तु वे सब अभी तक देखने में नहीं आये। डिंगल गीतों में सबसे अधिक प्रचलित गीत 'छोटो साणेर' है।

गीत और गीत-काव्य

यह ध्यान में रखने की बात है कि गीत और गीति-काव्य में भेद है। साधारणतः गीत-काव्य का अर्थ है जो गाया जा सके। इस दृष्टि से 'गीत' गीति-काव्य से भिन्न नहीं है। ढोला-मारूरा-दूहा भी गीति काव्य है, किन्तु छोटे गीतों से इसका भेद स्पष्ट है। इन गीतों में एक कथा चलती है। इससे इनका रूप प्रवन्ध का सा हो जाता है। इनको हम गीत-प्रबन्ध कह सकते हैं। "नरसीजी-रो माहेरो" "हरजी-रो व्यांवलो" आदि भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं को हम लोक-गीत या लोक-काव्य भी कह सकते हैं। ये रचनाएँ किसी व्यक्ति की नहीं, सदा जनता की निधि बनी रही हैं। जीणमाता और डूंगजी-जवारजी के गीत इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्रमुख गीतकार

मध्ययुग तक राजस्थानी के प्रसिद्ध गीतकार ये दीख पड़े हैं :—बारहठ चौहथ, आढा किसना, दुरसा आढा, चौभुजा सिढायच, पसाइत गाडण, फरसा आसिया करमसी, दूहा, खिड़िया, जगमाल, गाडण केसवदास, ईसर-बारठ, सांदूभालो, हर सूर, मौका, ठाकुरसी देवावत, डूंगरसी, तेजसी, रतनू धरमदास, सांकर, वीठू मेहो, पृथीराज, आसिया रतनसो, खींवराज, कल्याण-दास बारहठ, लालस खेतसी, मंघरा ढाढी, पदमा और भीमी चारणी, नर-हरदास बारहठ, माधोदास, तिलोकदास, लूणकर्ण, साइंया भूला, नेता, गाडण भांभण, नारायणदास, बगसा गोवरधन, हरदास, गोविन्ददास, चोला,

माधवदास, गेपा तूंकारा, लाखा, सांदू कूंमा, खेतसी, रामसिंह, मीसण आनंद, चन्दभाट, लल्लभाट, दाना सुरताण, चतुरा, बीठू घड़सी, राजसिंह और लिखिमीदास।

स्फुट काव्य

स्फुट काव्य के अन्तर्गत गीत-प्रबन्धों को छोड़ कर सब गीत आ जाते हैं। इसीमें वर्णन मुक्तक भी निहित है। फाग, बारहमासा, चौमासा आदि रचनाएँ प्रबन्ध काव्य न होकर मुक्तक ही हैं। इनको 'वर्णन मुक्तक' नाम दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त बहुत-सा स्फुट काव्य छन्दविशेष के संग्रहों के रूप में संचित है। जिन छंदों में राजस्थान के मुक्तक काव्य का वैभव निहित है, वे हैं दोहा, सोरठा और कुंडलिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोहा छंद राजस्थानी-छंदों में सबसे पुराना है। साथ-साथ यह अत्यधिक प्रचलित भी है। जितना लोक-काव्य यहाँ इस छंद में मिलता है। उतना अन्य किसी छन्द में नहीं। दोहा के बाद सोरठा और कुण्डलिया की लोकप्रियता सिद्ध होती है। श्री रावत सारस्वत ने अपने 'राजस्थानी साहित्य' नामक लेख में इन छन्दों के कुछ संग्रहों के नाम इस प्रकार दिये हैं:—

दोहा-संग्रह

किवलासरा दूहा, सत्रसालरा दूहा, सरोतरा दूहा, नागड़ारा दूहा, परिहाँरा दूहा, जवानीरा दूहा, जैठवैरा दूहा, खींवरैरा दूहा, जमलेरा दूहा, सोहणीरा दूहा, धवलरा दूहा, सुइपरा दूहा, रामचन्द्ररा दूहा, पीठवेरा दूहा, बींझरैरा दूहा, सोरठरा दूहा, रसालूरा दूहा, ठाकुरजीरा दूहा, गंगाजीरा दूहा, प्रिथीराजरादूहा, सज्जणरादूहा, जसराजरादूहा, सूरियारादूहा और जमालरा दूहा। इनके अतिरिक्त लेखक का कुछ और संग्रहों से भी परिचय है और वे हैं: सांगे राणैरा दूहा, हमीरराणैरा दूहा, पाबूजीरा दूहा, राव अमरसिंघजीरा दूहा, समरसी चहुवाणरा दूहा और लाखै फूलाणीरा दूहा। इनका उल्लेख 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में भी हुआ है। इन दोहों में भक्ति, वीर, शृंगार, करुण आदि सभी रस हैं, किन्तु वीर-रस के दोहा-संग्रहों में सूर्यमल्ल

मिस्रण की 'वीर-सतसई' का सबसे अधिक मान है।

स्फुट काव्य के अनेक संग्रह छंदों के नाम से प्रसिद्ध हैं जैसे राजिये रा सोरठा, हाला-झालारी कुंडलिया, जैसे धवलोतरी कुंडलिया, केहररी कुंड-लिया, मयणरा कवित्त, गजसिंहरा झूलणा, अमरसिंहरा सवैया, सूरसिंहरा नौटका, करमसेण-री झमाल, राजागजसिंहजीरा झूलणा, गौगैजी चहुवाण री नीसाणी, बीरमाणरी नीसाणी, राव सं खंगारजी री नीसाणी और महा-राज अभैसिंहजी रा कवित्त।

कहने का तात्पर्य यह है कि दूहा, कुंडलिया, सोरठा, कवित्त, नीसाणी, झूलणा, झमाल, गीत, आदि छन्दों के नाम पर अनेक स्फुट-काव्य-संग्रह तैयार हुए। ये संग्रह भिन्न-भिन्न समय और स्थानों में लिखे गये। इनमें मंगलाचारण, देव-देवी और गुरु की स्तुति को प्रारम्भ में ही स्थान दिना गया है। कहीं-कहीं राज-वंशावली को भी स्थान मिला है। स्थान-स्थान पर प्रमुख वीरों की ओर भी संकेत मिलते हैं। राजस्थान की स्फुट रचनाएँ यहाँ के महापुरुषों और ऐतिहासिक घटनाओं के सरस लघु चित्र हैं। साथ ही इनमें वीर-प्रशंसा और कायर-निंदा के अनूठे रंग भी दिये गये हैं।

राजस्थान के संत-साहित्य को हम स्फुट काव्य के अन्तर्गत ही रखेंगे। इन्होंने अपने 'सिलोक' और साखियों में तो दोहा छन्द का प्रयोग किया है, किन्तु भक्ति के प्रसाद से मिली हुई पद-परम्परा को भी इन्होंने आगे बढ़ाया। सन्तों के अनेक गीत सारंगी और तानपूरे की स्वर-लहरियों में लहराते मिलते हैं। संत साहित्य को हम एक प्रकार से लोक-साहित्य भी कह सकते हैं, किन्तु सुन्दरदास जैके धुरंधर पंडितों की अनेक रचनाएँ लोक-साहित्य में सम्मिलित होने से हिचकिचाती हैं, अतएव उनकी गणना 'दर्शन' के अन्तर्गत उपयोगी साहित्य में ही की जा सकती है।

शैलियाँ

इस प्रकार प्राचीन युग से मध्य युग तक राजस्थान-साहित्य में गद्य और पद्य की सभी पद्धतियाँ, सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में नाटक उपेक्षित ही रहा। कहते हैं कि महाराणा कुंभा ने

कुछ नाटक लिखे थे, किन्तु उनका उल्लेख मात्र मिलता है। उनको कहीं देखा नहीं गया। राजस्थानी के साथ-साथ अन्य भाषाओं के इतिहास को देखने से पता चलता है कि आधुनिक काल से पूर्व लोक-भाषाओं में नाटक को प्रोत्साहन नहीं मिला। इसीलिए नाटकों का अभाव रहा। मध्ययुग में हिन्दी में भी एक-दो ही नाटक बने, इसलिए ऐसा लगता है कि देश भर का वातावरण नाटक के अनुकूल नहीं था। शायद पहले तो उनको सिद्धों ने प्रोत्साहन नहीं मिलने दिया और फिर राजनीतिक वातावरण ने उनको दबाया जिसमें इस्लाम का भी बहुत कुछ हाथ था।

इसके सिवा गद्य और पद्य की शेष सब दिशाओं में राजस्थान-साहित्य का बोलबाला रहा। शायद यह कहना असंगत न होगा कि साहित्य के मार्ग से ऐतिहासिक सामग्री के संकलन, संरक्षण और प्रसार में जितना महत्त्व राजस्थान के साहित्य का है उतना और किसी साहित्य का नहीं। गद्य के विवेचन में ऐतिहासिक साहित्य का उल्लेख किया ही जा चुका है, साथ ही यह भी बताया जा चुका है कि राजस्थान के प्रबन्धों और मुक्तकों में भी भूमि, नगरों, ऋतुओं, कलाओं, व्यवहारों- उत्सवों, विलासों, नर-नारी के रूपों और भावों का गहन परिज्ञान संचित है। वीरकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल की सारी परंपराएँ इस साहित्य में मिलती हैं। रस, अलंकार, छन्द, शैली आदि सब साहित्यिक क्षेत्रों में राजस्थान साहित्य का वैभव अग्रगण्य है। यही दोहे और गीत, फाग और बारहमासे, बात और वचनिका राजस्थान साहित्य के गौरव की जय-दुंदुभियां हैं

: ७ :

राजस्थान का आधुनिक साहित्य

आधुनिक भारतीय साहित्य का मूल स्वर

अपने प्राचीन या मध्यकालीन साहित्य की तरह राजस्थान का आधुनिक साहित्य अपनी पृथक् परंपराएँ लेकर नहीं चला है। उसके प्राण, गति और कलेवर में देश-व्यापी प्रभाव है। गदर के बाद से ही राजस्थान ने देश के स्वर में अपना स्वर मिला दिया था। राजस्थान का अतीत गौरव, प्रताप का देश-प्रेम स्वतंत्रता-प्रेम को दृढ़ बना रहा था। वीरों के बलिदान की कहानियाँ लोक-जीवन में नूतन उत्साह फूंक रही थीं। झाँसी के निर्दय दमन, कोटा की फाँसियों, जलियाँवाला बाग की ऐतिहासिक नृशंसताओं, बंगाल के अकाल, भरतसिंह के बलिदान आदि की भयंकर घटनाओं और स्मृतियों ने लोक-जीवन को एक नई दिशा और साहित्य को एक नया ढर्रा प्रदान कर दिया था। आधुनिक परिस्थितियों ने स्वतंत्रता की लहर को उद्दाम बना दिया। प्रेसों और पत्रों के सहयोग से देश की एकता दृढ़ हो रही थी। तिलक, गोखले, मोहम्मद, शौकत, गांधी-जवाहर आदि से संबंधित साहित्य शुद्ध लोक-साहित्य था। उसमें भावतत्त्व की मूल प्रेरणा से ही कला ने रूप संवारा था। देश-वीरों के गीत देश के कोने-कोने में गाये जाते थे। जो हवा वर्मा के किसी कोने से चलती थी वह अनेक गाँवों, नगरों और प्रान्तों में तेजी से बहती हुई बलूचिस्तान तक जा पहुँचती थी। इसी प्रकार कश्मीर से चलने वाली बातबात की बात में कन्याकुमारी तक पहुँचती थी। राजनीतिक अवरोधों के होते हुए भी स्वतंत्रता की हवा देश में एक रूप से चलती रहती थी और देश भर में एक वातावरण बना हुआ था। यों तो कुछ लोग गुलामी के ताबेदार भी थे जो स्वतंत्रता के पथ में काँटे बिछाना ही अपना धर्म समझते थे, जो देश की खाकर विदेश के गीत गाते थे, किन्तु उनका या तो

सामना किया जाता था, या उनकी आँखों में धूल झोंक कर स्वाधीनता के पथ को प्रशस्त किया जाता था।

आधुनिक परिस्थितियाँ

उस समय जो साहित्य बनने लगा था वह देश-प्रेम से उद्वेलित था। इसकी लहर भारतेन्दु के काव्य में बहती दीखती है। भारतेन्दु-मण्डल के अन्य लोगों ने भी देश-प्रेम को जगाया और इस संबंध में देश के सौन्दर्य गौरव और इतिहास को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया। व्यंग्यों और अन्योक्तियों की सरगर्मी से साहित्यिक वातावरण में भी एक तीव्र आन्दोलन हुआ। राजनीतिक आन्दोलन ने देश के जीवन में शक्ति भरने का भारी प्रयत्न किया। इसलिए अनेक सामाजिक आन्दोलन भी राजनीतिक आन्दोलन के साथ हो लिये। बंगाल में राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज, उत्तर भारत में आर्य समाज आदि सामाजिक आन्दोलनों ने धार्मिक रूढ़ियों का उच्छेदन करके समाज को दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। देश के कोने-कोने में आर्य-समाज का झंडा फहरा गया और सामाजिक उपदेश और व्याख्यान, गीत और भजन जनता की रसना पर लहराने लगे। सन् १९२० ई० के बाद तो कांग्रेस ने इतना बल प्राप्त कर लिया कि सारे आन्दोलन धीरे-धीरे इसी की शक्ति में डूबने लगे। राजस्थान इन सब आन्दोलनों के प्रभाव से मुक्त न रहा। 'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' आदि कविताओं ने देशभर के लोगों के मन को मुग्ध कर लिया। ऐसे समय में राजस्थान से किसी पृथक् साहित्यिक परंपरा की आशा का प्रश्न ही नहीं उठता था।

नया मोड़ और नये विषय

जब देश के जीवन में नया मोड़ हो, नई परंपराओं और नई-नई गतिविधियों का निर्माण हो, तो साहित्य उनसे निरपेक्ष कैसे रह सकता है। राजस्थान का जन-जीवन भी एक ऐसे ही दौर से गुजर रहा था। उसमें भी जागरण और चेतना के सबल चिह्न प्रस्तुत थे। फिर वह राजस्थान के साहित्य में प्रतिबिंबित क्यों न होता? रीतिकाल के जिस विलासोन्माद ने

राजस्थान की वीरभूमि पर भी अपना सिक्का जमा लिया था, युग के साथ उसकी बाढ़ अब उतर गई। अब कवि-जीवन पर रूपसी का प्रभाव न होकर स्वदेश और स्वदेशी का ही विशेष प्रभाव दीखने लगा। जिस मदिरा ने कवि-जीवन को अशक्त और वीरों को हतप्रभ कर दिया था वह नवयुग के अरुणोदय में बिल्कुल उतर गई। राष्ट्र की माधुरी ने यहाँ के कवि को मुग्ध कर लिया और यहाँ के कण-कण में रत्न और बूंद-बूंद में मोती की आभा झलकने लगी। प्रताप और भामाशाह का उत्साह आज के कवियों का आदर्श होगया और हल्दीघाटी में अनेक तीर्थों की भावना की जाने लगी। इनके संबंध से न जाने कितनी कृतियाँ साहित्य-लोक में आविर्भूत हुई। अनेक ऐसे नाटक, खंडकाव्य और महाकाव्य बने जिनसे लोचन, श्रवण और हृदय की उत्कण्ठा देश में समाहित हुई। प्रताप की भाँति वीरवर दुर्गादास और झाँसी की रानी भी साहित्य के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुए। काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि अनेक साहित्य-रूपों को 'झाँसी की रानी' ने वैभव प्रदान किया।

नयी परम्पराएँ

शिवशंभु के चिट्ठों जैसे अनेक निबंधों से व्यंग्य-वाण बरस रहे थे जिनमें मधुर चुभन और तीव्र उद्बोधन था। कवि और लेखक समाज के विखरे मोतियों को एकता की माला में गूँथने का प्रयत्न करने लगे। सामाजिक संकीर्णताओं का उच्छेदन किया जाने लगा और साहित्यकारों के एक वर्ग के प्रयत्न दलितों और अछूतों को प्रेम के सूत्र में पिरोकर जनता का कण्ठहार बनाने के निमित्त होने लगे। विज्ञान के प्रकाश में मिले हुए नये मूल्यों के कारण प्राचीन निराधार मान्यताएँ बदलीं और साहित्य देवता और राक्षसों को छोड़ कर शनैः-शनैः मानव का सान्निध्य प्राप्त करने लगा।

इतिवृत्तवाद

इतिवृत्तवाद की पुकार आँधी की तरह आयी और उतर गयी। रघुवंश और शकुन्तला अनुवादों तक आकर ही रह गये। साकेत ने अपना मार्ग बदल दिया। जीवन के नये मूल्य आंके गये। मानस में जो दीपक की बाती

तक उकसाने को नहीं कही जाती थी वही सीता मैथिलीशरण के 'साकेत' में पसीना बहाती देखी जाती है। सूर के कृष्ण और राधा हरिऔध के युग में आकर नये आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं। कृष्ण में आदर्श लोकनायक की भावना की जाती है और राधा में समाज-सेविका की।

छायावाद और रहस्यवाद

छायावाद रहस्यवाद की पंक्ति में कल्पना के रंगीन पंख लगाकर पश्चिम से उड़ता आया, किन्तु यथार्थवाद के झोंको से उसके पंख विगलित होगये और कीट्स और शैली की शैलियाँ अधिक दिन तक न रह सकीं। यद्यपि तत्कालीन कवियों के लिए छायावाद के लोभ को संवरण करना कोई सरल काम नहीं था, किन्तु निदाघ के भीषण लू-प्रवाह को वसन्त-पवन कह कर कब तक भुलाया जा सकता है। परिणामतः अप्सरा की मधुरिमा छाया-लोक में अधिक दिन तक विहार न कर सकी। उसे ग्राम्या के वस्तुलोक में आश्रय के लिए उतरना पड़ा। 'तारों वाले गजरे' स्वप्न की भाँति बिखर गये और रहस्यवाद की भूल-भुलैयाँ में भटकने वाले 'इलाहाबाद के पथ पर' आकर उस मजदूरनी में कविता का रूप निहारने लगे जो "तोड़ती पत्थर" दिखाई दी।

कहने का तात्पर्य यह है कि रूढ़ियों और प्रथाओं के सम्बन्ध से अभी परँपरागत आकर्षण या मोह जीवन से संलग्न था, फिर भी प्राचीन मूल्यों में परिवर्तन दिखाई देने लग गया था। यथार्थवाद की ऊष्मा ने जो वाता-वरण तैयार किया उसी में प्रगतिवाद का जन्म हुआ। साहित्यिक आकर्षण के केन्द्र प्रासाद से कुटिया और झोंपड़ी में तथा देव, विप्र या राजा से मजदूर या किसान में आगया। अब नायकीय पात्रता होरी जैसे लोगों में अनायास ही दीखने लगी।

जिस प्रकार सामाजिक माप-दण्ड तीव्रता से बदलते जा रहे थे उसी प्रकार साहित्यिक माप-दण्ड भी बदलते जा रहे थे। युग का यह देशव्यापी प्रभाव था। यद्यपि कुछ आंचलिक विशेषताएँ अब भी दृष्टिगोचर होती थीं, किन्तु स्वतंत्रता तथा अन्य आन्दोलनों के प्रवाह में समग्र देश बह रहा था,

अतएव उनका सामान्य प्रभाव सार्वभौम था। राजस्थान के साहित्य में वीर-पूजा का युग आया और गया, देव-देवी-पूजा का युग भी आया और गया और नायक-नायिका-भेद के साथ रूप-पूजा भी चली गई। अन्त में देश-प्रेम की लहरों में संसिक्त होकर समता की भावना सिहरी और लोक-संग्रह की वास्तविक सिद्धि लोक-नायक में की गई।

ब्रजभाषा

ब्रजभाषा व्यक्तियों की छाया में रह कर भी साहित्य-लोक से किनारा करने लगी। यद्यपि कहीं-कहीं उसने अपनी चपल उच्छ्वासों से उत्क्रान्ति के स्वरों को प्रोत्साहित किया, किन्तु खड़ी बोली के सामने वह अपनी स्थिति को न संभाल सकी और युग को दाद देकर वह अपना अंचल समेटती हुई एक ओर चलती गई। यों तो कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय आदि छन्दों से ब्रजभाषा का मोह बहुत प्राचीन था, किन्तु श्रीधर पाठक और नाथूराम शंकर जैसे कवियों ने उसके इस मोह को कुछ शिथिल भी कर दिया था और कुछ नये अलंकारों की झंकृतियों से तो उसने अपनी नव-रमणीयता का समुचित दावा भी किया।

आधुनिक काल 'गद्यकाल' के नाम से प्रसिद्ध हो चला है। इसका अभि-प्राय यह नहीं कि इस युग में केवल गद्य की ही रचनाएँ हुईं, वरन् यह है कि इस युग में गद्य को प्रधानता मिली। इस युग में गद्य ने आशातीत अभ्युत्थान किया जो युग की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अनुरूप ही था। इस युग ने प्राचीन काव्य-परम्परा को बिल्कुल बदल सा दिया। हो सकता है कि राजस्थान में वीरकाव्य आज विद्युत्प्रकाश के होते हुए भी अंधकार में प्रकट होकर उसी में पड़े रह जाते हों, किन्तु नये वातावरण में नयी शैलियाँ और नयी तर्जें चल पड़ी हैं और यहाँ की अपनी परम्पराएँ विलीन हो रही हैं। यह खड़ी बोली का युग है। इसमें राजस्थान का काव्य अपनी विशेषताएँ छोड़कर नयी राह पर आगया है। वह नये ढाल पर ढुलक रहा है। फिर भी अभी राजस्थानी को जीवित भाषा ही कहेंगे क्योंकि उसकी बोलियाँ अब भी कभी-कभी अपना रंग दिखा देती हैं।

राजस्थानी गद्य

राजस्थानी गद्य ने आधुनिक युग में श्री श्यामलदास दधिवाड़िया पर आकर अपना जुआ डाल दिया, फिर भी श्री शिवचन्द्र भरतिया ने राजस्थानी गद्य की कुछ कृतियाँ प्रस्तुत करके राजस्थानीके नामको ऊंचा किया। भरतिया ने राजस्थानी के करीब १० ग्रन्थ लिखे जिनमें उनके ये नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) केसरविलास नाटक, (२) फाटका जंजाल नाटक, (३) बुढ़ापा की सगाई नाटक, (४) संगीत मानकुंवर नाटक। इसके पश्चात् श्री रामकर्ण आसोपा ने मारवाड़ी व्याकरण लिखा जिसकी भूमिका भी मारवाड़ी में ही है। उन्होंने मारवाड़ी शब्दों और मुहावरों का एक कोष तैयार किया था, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

गद्य-काव्य और मुक्त-काव्य

आज सारे देश में खड़ी बोली कविता के अन्तर्गत एक धारा गद्य-काव्य की भी बह रही है। उसके सम्बन्ध में कुछ भ्रम फैला हुआ है और वह है विभाजन सम्बन्धी। प्रश्न यह है कि गद्य काव्य को गद्य के अन्तर्गत रखें या पद्य के ? यह भ्रम मुक्त-काव्य के सम्बन्ध में भी फैला हुआ है। कुछ लोग मुक्त-काव्य को गद्य-काव्य कहना चाहते हैं। जहां तक काव्य की बात है गद्य और पद्य दोनों ही आज से नहीं हजारों वर्षों से काव्य माने गये हैं। "काव्यञ्चद्विविधं गद्यञ्च पद्यञ्च" से यह सिद्ध है। मुक्त काव्य मात्रा और तुक के बन्धन को स्वीकार नहीं करता, फिर भी उसमें लय रहती है, अत-एव उसका आविर्भाव या विकास पद्य से मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इधर गद्य-काव्य का विकास निस्सन्देह गद्य से हुआ है। गद्य हमारे नित्यप्रति के व्यवहार की चीज़ है। उसमें बुद्धि का प्राधान्य रहता है, इस-लिए वह भावप्रधान पद्य से भिन्न होता है, किन्तु व्यवहार के कुछ अवसरों पर हमलोग भावमयी भाषा का उपयोग भी करते हैं। दुःख-सुख दोनों परि-स्थितियों में भावमयी भाषा का प्रयोग हो सकता है, किन्तु दुःख की परि-स्थितियाँ, प्रमुखतः करुणा और शोक की, जिसमें विप्रलम्भ को भी समा-विष्ट कर सकते हैं, इसके अधिक अनुकूल पड़ती है। ऐसी परिस्थितियों में

गद्य का काव्यमय हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे गद्य-काव्य में लय का होना आवश्यक नहीं है, किन्तु यदि उसमें लय भी आजाये तो सोने में सुगन्ध है। लय-प्रशस्त गद्यकाव्य मुक्त काव्य से अभिन्न हो जाता है। जो गद्य-काव्य लय-प्रशस्त हो, साथ ही उसमें स्वानुभूति की प्रधानता और एक संवेदना हो वह आत्मपरकता के कारण गद्यगीत की कोटि में आ जाता है, मुक्तकाव्य को गद्य गीत न समझ लेना चाहिए।

गद्यगीत

राजस्थान में जहाँ मुक्त काव्य लिखा गया है वहाँ गद्य-काव्य और गद्य-गीत रचनाएँ भी हुई हैं। डा० एस० पी० वर्मा, शान्तिलाल असावा, ताराप्रकाश जोशी, मदनगोपाल शर्मा, प्रकाश आतुर, नंद चतुर्वेदी और कमलाकर कोटेवाले राजस्थान के अच्छे गद्य गीतकार हैं। श्री जनार्दनराय नागर ने करीब पाँच सौ गद्य-काव्य लिखकर इस नई परम्परा को बहुत आगे बढ़ा दिया है। कुँवर चन्द्रसिंह भी सिद्धहस्त गद्य-काव्यकार हैं, किन्तु उनकी लेखनी का झुकाव राजस्थानी की ओर ही अधिक रहता है। श्री विष्णु-अम्बालाल जोशी की "सीधी रेखाएँ" अपली भाव-भंगिमा से गद्य-काव्य के नाम को प्रशस्त करती हैं।

वाद-प्रवाह

उक्त काव्य रचनाओं में हमें अनेक वादों का प्रवाह मिलता है। जिस प्रकार हमें छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि की ऊर्मियाँ अन्य प्रान्तों के खड़ी बोली काव्य में देखते हैं उसी प्रकार यहाँ के काव्य में दिखायी देती हैं। यहाँ के प्रमुख छायावादी और रहस्यवादी कवि हैं स्व० ईश्वरलाल शर्मा, कमलाकर कोटेवाले, स्व० डा० सुधीन्द्र, शकुंतला रेणू, शांतिलाल असावा और मनोहर प्रभाकर। इन कवियों में ये दोनों धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। श्री जनार्दनराय नागर और असावा तो रहस्य-वाद के क्षेत्र में कभी-कभी बड़ी अनूठी कृतियाँ प्रस्तुत कर देते हैं।

जिस प्रकार राजस्थान के गीतकार अपना प्रमुख स्थान रखते हैं उसी प्रकार यहाँ के प्रगतिवादी कवि भी बड़ी सुन्दर कृतियों की सृष्टि कर रहे

हैं। उनमें से प्रमुख प्रगतिवादी कवि डा० रांगेय राघव, गंगाराम पथिक, गणपति चन्द भंडारी, शांतिलाल असावा, डा० जगदीशचन्द्र जोशी, कर्पूर-चन्द्र कुलिश, नंद चतुर्वेदी, वृद्धिशंकर त्रिवेदी और चन्द्रदेव शर्मा हैं। भाषा की दृष्टि से भी इनके काव्य में प्रगति के लक्षण दिखलायी पड़ते हैं। श्री असावा और नन्द चतुर्वेदी यथार्थवाद में अपने प्रस्तावों की सांकेतिक प्रेरणा से काव्य को प्रगति के पथ पर ले जाते हुए भी उसके सामने एक मधुर प्रकाश-किरण छोड़ देते हैं, जिसमें उपदेश नहीं, प्रेरणा है—कोई योजना नहीं, संकेत हैं। जो काम प्रेमचन्द अपनी कहानियों से नियमित रूप से करते थे उसी को ये दोनों कवि अपने गीतों से कभी-कभी कर देते हैं।

इधर कुछ दिनों से प्रयोगवादी धारा भी राजस्थान के काव्य में बहने लगी है। करीब एक वर्ष पूर्व डा० कन्हैयालाल सहल ने अपने "प्रयोग" को प्रकाशित करके राजस्थान में प्रयोग की परम्परा का सूत्रपात कर दिया था। अब तो रामाचार्य जैसे, कई नवयुवक कवि भी इस मैदान में उतर रहे हैं। रामाचार्य की "काजल की कसम" काव्य-क्षेत्र में पर्याप्त चर्चा का विषय बनी हुई है।

उर्दू शैली

खड़ी बोली-काव्य का उल्लेख करते हुए हम उर्दू शैली के कवियों को नहीं भुला सकते। श्री सबा साहब राजस्थान के प्रसिद्ध उर्दू-शायर हैं। उनकी कविता दो शैलियों में निकलती है—एक तो फारसी के शब्दों से बोझिल और दूसरी बोलचाल के शब्दोंवाली। दूसरी शैली को उर्दू छंदों के होते हुए भी हम खड़ी बोली की कविता ही कहेंगे। सबा साहब की रुबा-इयों में बड़ी चुस्ती और नाजुकखयाली रहती है जो उर्दू शैली की विशेषता है। उसमें प्रभावित करने की अमोघ शक्ति रहती है। उर्दू शैली के अन्य कवि श्री गणेशीलाल उस्ताद, प्रेम माथुर और मंसूर हैं। गणेशीलाल उस्ताद भी सबा साहब की तरह दो शैलियों में कविता करने में कुशल हैं। उनकी उर्दू शैली की कविता को भी सब लोग समझ सकते हैं और जब वे हिन्दी शैली में कविता करते हैं तो उनकी भाषा बड़ी मँजी हुई निकलती है। हस-

रत जयपुरी सिनेमा-क्षेत्र में राजस्थान के खड़ीबोली-काव्य का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इनकी भाषा हिन्दी और उर्दू, दोनों के बीच की है।

खड़ी बोली काव्य के उत्थान और वाद

कहने की आवश्यकता नहीं कि राजस्थान की खड़ीबोली की कविता के दो प्रमुख उत्थान सामने आते हैं—एक तो देश की स्वतन्त्रता से पूर्व का और दूसरा बाद का। दोनों के विषय अलग-अलग दिखायी देते हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व का कवि या तो राष्ट्र से सम्बन्धित रचनाएँ करता था या सांस्कृतिक रचनाएँ। राष्ट्र से सम्बन्धित रचनाओं में देश की दशा और महिमा रहती थी। इन विषयों के अन्तर्गत भूत और वर्तमान की तुलना, देश का प्राकृतिक सौन्दर्य और देश-वीरों का प्रतिरूपण रहता था। केसरीसिंह बारहठ, जयनारायण व्यास, श्री माणिकलाल वर्मा जैसे देशभक्त साहसपूर्वक अंग्रेजी शासन पर व्यंगाघात किया करते थे। उनके व्यंग्य कभी-कभी स्पष्टोक्तियों की सीमा तक पहुँच जाते थे, किन्तु कुछ कवि ऐसे भी थे जो शीर्षकों में प्रतीक और वर्णनों में रूपक सँजोकर वस्तु-स्थिति को अभिव्यक्त करके चेतना की चिनगारी सुलगाते थे। जिनमें इतना साहस नहीं था वे "प्रताप" और "जौहर" के सजीव वीर-चित्रों से जनता के उत्साह को उद्बोधित करते थे। उस समय इनके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी थे जो आत्म-मग्न थे जिनका लक्ष्य केवल कविता के लिए कविता करना था। वे छायावाद और रहस्यवाद की सीमाओं में हृदय और मन की क्रीड़ा थी, देश और काल की प्रेरणा नहीं थी।

दूसरे उत्थान में कवियों के सामने स्वतन्त्रता की समस्या का अन्त तो हो गया, किन्तु मजदूर और किसान की समस्याएँ अपनी जटिलताओं में प्रकट हुई। साथ ही सम्पर्कों की व्यापकता के कारण आज के कवि की दृष्टि ही हीरोशींवा के अलावा, हंगरी और स्वेज़ की समस्याओं पर भी गयी और कवि की मूक सहानुभूति मुखर वाणी में फूट पड़ी। उसने परिस्थितियों की कटु गम्भीरता को अभिव्यक्त करते हुए एक नयी दिशा की ओर संकेत किया जिससे प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि हुई। इधर स्वच्छन्दतावाद के गर्भ से

व्यक्तिवाद का उद्भव हुआ जिसमें मनस्तत्व की प्रमुखता होते हुए भी सामाजिक स्वस्थता विगलित रूप में प्रकट हुई। राजस्थान में इसका अधिक स्वागत न हुआ। कविता के क्षेत्र में विजय निर्बाध जैसे एक-दो कवियों ने ही व्यक्तिवाद को स्वीकृति दी। गद्य में अभी तक कोई उल्लेखनीय व्यक्तिवादी रचना प्रकाश में नहीं आयी।

इस समय प्रयोगवाद ने एक नई धारा के रूप में जन्म लेकर सब मान्यताओं को तोड़ देने का प्रयत्न किया है। विषय, शैली, अलंकार आदि की दृष्टि से प्रयोगवाद में प्रत्येक कवि की स्वच्छन्दता प्रमाणित होती है। यह वाद एक नये साहित्यिक प्रयास के रूप में "निरंकुशा: कवय:" के सिद्धान्त की चरम सिद्धि दिखाई पड़ता है। राजस्थान में प्रयोगवाद को भी अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला, किन्तु एक बहती हुई हवा के रूप में इसका प्रभाव यहाँ भी दिखलायी पड़ रहा है।

राजस्थान में रहस्यवाद अब भी जीवित है। कमलाकर कोटेवाले का "एकोऽहम्" बहुत प्रसिद्ध हो गया है। शकुन्तला 'रेणु' की रहस्यवादी रचनाएँ अब भी अमन्दगति से बनती चली जा रही हैं। शान्तिलाल असावा और मनोहर प्रभाकर भी कभी-कभी किसी अदृश्य सत्ता से अपना सम्बन्ध स्थापित कर ही लेते हैं। उनके इसी सम्बन्ध में रहस्यवाद की लहरें चमकने लगती हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजस्थान आधुनिक काव्य की सभी शैलियों और पद्धतियों को अपनाकर युग के साथ कदम बढ़ाये चला जा रहा है। उसने स्वदेश और विदेश दोनों के वातावरण से अपनी प्राण-प्रतिष्ठा की है और उसकी काव्य-उच्छ्वासों में इसका प्रभाव प्रस्तुत है। देश के नवीन कवियों की कृतियों का अध्ययन राजस्थान के लोग जिस रुचि और निष्ठा से करते हैं उतनी ही उत्सुकता और तत्परता से वे रूस, अमेरिका, इंग्लैंड आदि के साहित्य का अवलोकन करते हैं, फिर भी राजस्थान-काव्य की आधार-शिला यहाँ की संस्कृति और समाज विनिर्मित है।

खड़ी बोली का गद्य साहित्य

राजस्थान का खड़ी बोली का गद्य साहित्य आजकल काफी प्रगति कर रहा है। यह ठीक है कि राजस्थान गद्य-साहित्य के क्षेत्र में अभी उतना संपन्न नहीं है जितने देश के अन्य भाग, किन्तु यहाँ के लेखकों की तत्परता आशावर्द्धक है। वहाँ के गद्य-साहित्य की बहुमुखी प्रगति में उज्ज्वल भविष्य का संकेत है। विवेचन की सुविधा के लिए यहाँ का गद्य-साहित्य सामान्यतया दो भागों में विभक्त हो सकता है: सृजनात्मक और विवेचनात्मक। पहले वर्ग में वे गद्यकार आते हैं जिन्होंने मौलिक साहित्य की सृष्टि की है दूसरे वर्ग में आलोचक, शोधकर्ता और ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करने वाले लेखक आते हैं। कोषादि लिखने वाले लोग भी उसी वर्ग में रखे जा सकते हैं।

सृजनात्मक साहित्य

सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत कहानी, उपन्यास, एकांकी, नाटक, निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, स्वप्न और रिपोर्ताज को लिया जा सकता है। दैनिक और साप्ताहिक पत्रों अथवा मासिक पत्रिकाओं में कभी-कभी राजस्थान गद्य की प्रयोगात्मक शैलियाँ भी सामने आ जाती हैं, किन्तु उनके रूप के स्थिर हुए बिना उनको कोई नाम देना उचित न होगा।

कहानी

राजस्थान का कहानीकार सभी विषयों पर कहानियाँ लिख रहा है, अनेक रूपों में और अनेक शैलियों में। यहाँ के अच्छे कहानीकारों में इनके नाम गिनाये जा सकते हैं—डा० रांगेयराघव, विष्णु अंबालाल जोशी, डा० एस० पी० वर्मा, श्रीमती कान्ति वर्मा, यादवेन्द्र शर्मा, परमेश्वरलाल महमिया, डा० अरुण, पं० जनार्दन राय नागर, देवनारायण आसोपा, जगदीश "कनक" और रणजीतसिंह।

डा० रांगेय राघव प्रगतिवादी लेखक हैं। इनकी कहानियों में कल्पना और अनुभव का अटूट सामंजस्य रहता है। डा० एस० पी० वर्मा बहुत पुराने कहानीकार हैं। इनकी थोड़ी-सी कहानियों ने ही साहित्य में अपना

स्थान बना लिया है। श्रीमती कान्ति वर्मा पारिवारिक कहानियाँ लिखने में बड़ी पटु हैं। इनकी लगभग १ दर्जन कहानियाँ धर्मयुग और साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी कहानियों में मनस्तत्व का पुट रोचकता उत्पन्न कर देता है।

पं० जनार्दन नागर की कहानियाँ सरस्वती आदि पत्रिकाओं में सन् १९३४ से ही निकलने लगी थीं। इन्होंने अब तक करीब तीन दर्जन कहानियाँ लिखी हैं जिनमें सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ प्रणय-चित्र बड़े सुन्दर प्रकट हुए हैं। डा० अरुण का "स्वप्न का देवता" और रेलगाड़ी "कहानी-संग्रहों में मनस्तत्व, चरित्र और संस्कृति का अटूट सामंजस्य है। भाषा परिष्कृत और मुहावरेदार है। श्री विष्णु अम्बालाल जोशी का "वह" कहानी-संग्रह नाम और काम, दोनों दृष्टियों से मोहक है। श्री यादवेन्द्र और आसोपा की कहानियाँ चालू भाषा और परिस्थिति-चित्रण के लिए प्रशंसनीय हैं। श्री "कनक", रणजीतसिंह और महमिया की कहानियाँ प्रगति या प्रणय का आधार लेकर चलती हैं। आचार्य सर्वे हिन्दी कथा-साहित्य की नवीनतम विद्या 'लघुकथा' के प्रतिनिधि लेखक हैं। स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त इनकी रचनाएँ "विशाल भारत" 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान" आदि में भी निकलती रहती हैं।

उपन्यास

यहाँ खड़ी बोली की उपन्यास-परंपरा का द्वार खोलने वाले पं० लज्जाराम थे। उन्हींके साथ-साथ पं० रामकृष्ण शुक्ल ने उपन्यास लिखना प्रारंभ कर दिया था। शुक्लजी ने दो उपन्यास लिखे : "विषपान" और "ठोकर"। दूसरा उपन्यास अपूर्ण है। इनकी भाषा बड़ी प्रौढ़ और व्यंग्यों से सजी हुई है। सन् १९३० के आसपास के जो सामाजिक चित्र इन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे बड़े सजीव और मार्मिक हैं।

यहाँ के अन्य उपन्यासकार डा० रांगेय राघव, पं० जनार्दनराय नागर, और यादवेन्द्र शर्मा "चन्द्र" हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से "चन्द्र" जी के चार उपन्यास अच्छे बन पड़े हैं, किन्तु मनोवेगों के झोंकों में कलाविधान

शिथिल पड़ गया है। डा० रांगेय राघव के उपन्यासों में "मुर्दों का टीला", और "कब तक पुकारूं" अधिक प्रसिद्ध हैं। ये प्रगतिवादी कृतियाँ हैं।

राजस्थान के उपन्यासकारों में श्री जनार्दनराय नागर का नाम विशेष स्मरण के योग्य है क्योंकि इन्होंने पं० लज्जाराम की परंपरा को आगे बढ़ाया है। सामाजिक जीवन की गुत्थियों पर दृक्पात करने के साथ-साथ इन्होंने कहीं-कहीं राष्ट्रप्रेम और इतिहास को भी आधार बना लिया है। भाषा की दृष्टि से ये उपन्यास बड़े सरल और सरस हैं।

नाटक

मध्ययुग में नाटकों का कुछ प्रभाव रहा था। राजस्थान ने आज उसकी पूर्ति कर ली है। कई ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक प्रकाश में आ गये हैं। इस क्षेत्र में श्री जनार्दनराय नागर, अजमेरवाले दिनकर, देवीलाल साँभर और शंभुदयाल सक्सेना के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। नागरजी के करीब एक दर्जन नाटकों में से प्रायः सभी ऐतिहासिक हैं। राष्ट्र, समाज, क्रान्ति, प्रणय आदि अनेक विषय इनके नाटकों के आधार हैं। इनकी विशेषता यह है कि वे अभिनय की कसौटी पर भी खरे उतर चुके हैं। दिनकर के पाँच ऐतिहासिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें प्रसाद की शैली का अनुकरण है। अभिनेयता अभी इनके कला-कौशल की प्रतीक्षा कर रही है। श्री देवीलाल सांभर ने नाटक और नाट्य गीतों के क्षेत्र में बड़ा सराहनीय कार्य किया है। इनके नाटक यहाँ के साहित्य में अपना स्थान रखते हैं। श्री शंभुदयाल सक्सेना के नाटक प्रायः पौराणिक और ऐतिहासिक हैं। उनमें सांस्कृतिक और सामाजिक आदर्श प्रस्तुत किये गये हैं। शिक्षा संस्थाओं में उनका बड़ा स्वागत हुआ है, किन्तु भाषा में आंचलिक दुर्बलताएँ रह गयी हैं। कहीं-कहीं अभिनेयता का अभाव भी खटकता है। फिर भी श्री सक्सेना का प्रयास एक बड़े अभाव की पूर्ति कर रहा है। डा० अरुण का भी एक नाटक "दीन नरेश" नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसका आधार पौराणिक और धरातल सांस्कृतिक है। भाषा प्रांजल और पुष्ट है, किन्तु अभिनेयता की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया।

एकांकी

पूर्ण नाटकों की अपेक्षा राजस्थान में एकांकियों की दिशा में विशेष प्रगति हो रही है। स्वर्गीय डा० सुधीन्द्र और श्री शंभुदयाल सक्सेना ने एकांकी के क्षेत्र में काफी काम किया है। डा० सुधीन्द्र के एकांकी प्राय: एक-दृश्यात्मक हैं, किन्तु श्री सक्सेना अनेक दृश्यात्मक एकांकी ही लिखते हैं। उनके प्राय: एकांकी पौराणिक और सांस्कृतिक हैं,जिनका आधार महाभारत रामायण या बुद्ध-संस्कृति है। इनके कुछ एकांकियों को रामचरित मानस से भी प्रेरणा मिलती है। डा० सुधीन्द्र के एकांकी ऐतिहासिक और सामाजिक हैं। वे अपनी लघुता के लिए प्रशस्त हैं। डा० अरुण और श्री हरिनारायण मेणवाल ने भी एकांकी की दिशा में प्रयास किया है। श्री मेणवाल ने लगभग एक दर्जन एकांकी लिखकर पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली है, किंतु अभिनय की कसौटी पर इनके एकांकी भी पूरे नहीं उतरते। डा० अरुण के पचास से ऊपर एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं, जिनकी विवेचना डा० रामचरण महेन्द्र ने अपनी थीसिस में की है। इनके सत्ताईस एकांकी अप्रकाशित हैं। उनमें सभी प्रकार के विषय हैं। भाषा निखरी हुई और मुहावरेदार है। कहीं-कहीं व्यंग-सौन्दर्य मनोहर है, किन्तु कहीं-कहीं क्लिष्ट और दुरूह भी है। कई एकांकियों में गीत भी हैं। सामाजिक, पौराणिक और ऐतिहासिक एकांकियों के अतिरिक्त डा० अरुण ने व्यंग्यात्मक एवं रूपात्मक एकांकी भी लिखे हैं। अनेक दृश्यात्मकता और दुरभिनेयता इनके एकांकियों की दुर्बलता है। श्री इन्दुशेखर, मुकुल, मनोहर प्रभाकर और नारायणसिंह (मसूदा) ने भी अच्छे एकांकी लिखे हैं। इनमें से अधिकांश रेडियो रूपक हैं। श्री मनोहर प्रभाकर के एकांकियों की भाषा चुस्त और प्रभावमय है और मुकुल अपने रूपकों में कभी-कभी कवि हो उठते हैं। विषय सामाजिक हैं और कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया गया है। श्री नारायणसिंह के एकांकियों की प्रवृत्ति सामाजिक और प्रकृति सांस्कृतिक है। अभिनेयता-पक्ष दुर्बल है, किन्तु भाषा ओजमयी है। कुछ नवयुवकों के एकांकी भी प्रकाश में आते चले जा रहे हैं। उनमें श्री जगदीश "कनक" रणजीतसिंह के प्रयास

स्तुत्य हैं। श्री अजयसिंह एस० राठौर ने राजस्थान के एकांकी-साहित्य को आगे बढ़ाने में पर्याप्त योग दिया है।

जयपुर में रेडियो स्टेशन के खुलजाने के बाद राजस्थान से रेडियो रूपक बड़ी तीव्रता से प्रसारित हो रहे हैं। इनमें प्रधानता सामाजिक विषयों की रहती है। कुछ रूपकों में व्यंग्य और हास्य मोहक है। हास्य रस के एकांकीकारों में श्री गंगाधर शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है। रेडियो रूपककारों में डा० माथुरलाल शर्मा ने भी नाम प्राप्त किया है। इतिहास के पंडित का यह प्रयास हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का संकेत है। ये एकांकी अपने रचयिता के ज्ञानक्षेत्र की धुरी पर घूमते हैं। इन एकांकियों में अपने ढंग की मधुरता है। रेडियो रूपकों में श्री मदनगोपाल शर्मा की कृतियों का बहुत स्वागत हुआ है। शर्माजी ने प्रायः राजस्थान संस्कृति शौर्य और प्रणय से सम्बन्धित विषय चुने हैं। इनकी भाषा बड़ी सरल और गठी हुई है। कला-विधान प्रौढ़ है। जयसिंह एस० राठौर ने भी एकांकी के क्षेत्र में विशेषतः रेडियो रूपक के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली है। भाषा और एकांकी की दृष्टि से इनके एकांकी बहुत अच्छे हैं।

निबंध

निबंध से हमारा तात्पर्य सृजनात्मक निबंध से हैं। निबंध-वर्ग के अंतर्गत वे रचनाएँ आती हैं जो कोरी मस्तिष्क की ही उपज नहीं हैं, अपितु जिनका संबंध अनुभूतियों से भी है। जैसे निबन्ध अँग्रेजी में लैंब, हैजलिट, जी० गार्डीनर, आर० एल० स्टीवेंसन आदि ने लिखे हैं वैसे हिन्दी साहित्य में बहुत अधिक नहीं लिखे गये। राजस्थान में तो ऐसे निबन्धों का बहुत अभाव है। राजस्थान में ऐसे निबन्धों का सूत्रपात करने वाले पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी माने जाते हैं। "कछुआ धर्म" से उनके ऐसे निबन्धों की शैली का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

गुलेरी जी के पश्चात् श्री रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख ने ऐसे निबन्धों के क्षेत्र में पदार्पण किया। यद्यपि शिलीमुख जी को हिन्दी-जगत एक प्रौढ़ आलोचक के रूप में ही जानता है, किन्तु उनके करीब दो दर्जन निबन्ध ऐसे

हैं जो उनकी सृजनशक्ति के परिचायक हैं। "कीमियागर" जैसे निबन्ध लिख-कर "शिलीमुख" जी ने अपने "उपनाम" को दोनों अर्थों में सार्थक बना दिया है। "शिलीमुखी" के निबन्ध अपने रचयिता के नाम को अजर बनाने के लिए पर्याप्त हैं। पता चला है कि उनके ऐसे ही कुछ निबन्धों को डा० नगेन्द्र प्रकाशनार्थ ले गए हैं जो उनकी कीर्ति को और भी व्यापक बना देंगे।

आजकल डा० कन्हैयालाल सहल, डा० सरनामसिंह शर्मा "अरुण," श्री शिवकुमार शुक्ल, डा० रामानन्द तिवारी, और श्री कन्हैयालाल शर्मा सृजनात्मक निबन्ध लिख रहे हैं।

आलोचना

राजस्थान में आलोचना के मार्ग को प्रशस्त करनेवालों में प्रमुख नाम पं० रामकृष्ण शुक्ल "शिलीमुख" का है। यों तो पुरोहित हरिनारायण, सूर्य-करण पारीक, रामसिंह, स्वामी नरोत्तमदास और इन सबसे पहले मुनि जिनविजय जी ने आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण कर दिया था, किन्तु इनका काम अधिकांशत:सम्पादन से सम्बन्धित रहा। हाँ, सूर्यकरणजी पारीक और नरोत्तमदास स्वामी ने आलोचना को अवश्य प्रोत्साहन दिया, किंतु "शिली-मुख" जी ने आलोचना को तात्विक विश्लेषण और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं का समन्वित आधार देकर एक नई दिशा प्रदान की जिसकी ओर डा० फतह सिंह, डा० कन्हैयालाल सहल, डा० देवराज उपाध्याय, डा० अरुण, डा० सुधीन्द्र, डा० मोतीलाल मेनारिया, पं० मोहनवल्लभ पंत, पं० हरिराम तिवारी, डा० सोमनाथ गुप्त, डा० रामानन्द तिवारी, डा० रामचरण महेंद्र, पं० झाबरमल शर्मा, श्री प्रेमचन्द विजयवर्गीय, पं० पतराम गौड़, श्री जग-दीश 'कनक', श्रीनन्द चतुर्वेदी, श्री सुमनेश जोशी, मनोहर प्रभाकर आदि ने बड़ी दृढ़ता से पदार्पण किया।

इतिहास और गवेषणा

इस क्षेत्र में राजस्थान के लोग बड़ी प्रगति कर रहे हैं। अनेक ऐतिहा-सिक और सांस्कृतिक तथ्य प्रकाशित करके वे देश का बड़ा उपकार कर रहे हैं। इतिहास के क्षेत्र में मुंशी देवी प्रसाद, पं० लज्जाराम, पं० गौरीशंकर

हीराचन्द ओझा, डा० दशरथ शर्मा, डा० सत्यप्रकाश, डा० रघुवीर, सुख-सम्पतिराय भंडारी, पं० झाबरमल शर्मा, पं० विश्वेश्वरनाथ, डा० मथुरा-लाल शर्मा आदि ने अपनी श्रमसाध्य कृतियों से उपयोगी साहित्य के भंडार को बहुत समृद्ध किया है।

गवेषणा के क्षेत्र में जिस काम को पाश्चात्य विद्वानों ने प्रारम्भ किया था और जिसे खड़ीबोली में गुलेरीजी ने प्रेरित किया उसी को नरोत्तम-मंडल ने आगे बढ़ाया। श्री नाहट्टा इस पथ के अथक पथिक हैं। पं० गौरी-शंकर हीराचन्द ओझा ने इतिहास के मार्ग से भी हिन्दी-साहित्य के भंडार को ही भरा था। उनका "रासो का निर्माण-काल" नामक लेख इसका प्रमाण है।

इधर विश्वविद्यालय ने खड़ी बोली में गवेषणा की गति को द्रुततर बना दिया है। जयपुर, बीकानेर, उदयपुर, जोधपुर, कोटा, पिलानी, में हिन्दी के अनेक छात्र शोध-कार्य कर चुके हैं और कितने ही अब भी कर रहे हैं। इस दिशा में पं० रामकृष्ण शुक्ल "शिलीमुख", डा० सोमनाथ गुप्त, डा० फतहसिंह, पं० मोहन वल्लभ पन्त, श्री नरोत्तमदास स्वामी, डा० अरुण और डा० देवराज उपाध्याय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में लग-भग एक दर्जन से ऊपर अधिनिबंध लिखे जा चुके हैं। गवेषणात्मक कार्य करने वालों में श्री अगरचन्द नाहटा, नरोत्तमदास स्वामी, मोतीलाल मेना-रिया, पुरषोत्तम मेनारिया, डॉ० सत्यप्रकाश, डॉ० कन्हैयालाल सहल, डॉ० देवराज उपाध्याय, डॉ० शिवस्वरूप "अचल", कन्हैयालाल शर्मा, डॉ० मोतीलाल गुप्त, डॉ० राजकुमारी, शिवपुरी,डॉ० सरनामसिंह शर्मा "अरुण," डॉ० चन्द्रकला, डॉ० गायत्रीदेवी, डॉ० शारदामाथुर, डॉ० श्यामशंकर दीक्षित, डॉ० जगदीश जोशी, डॉ० फतहसिंह, डॉ० मथुरालाल शर्मा, रामेश्वर ओझा, गिरिधर शर्मा और रावत सारस्वत के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

विविध लेख

राजस्थान में विविध लेख लिखनेवालों का अभाव नहीं रहा है। पं०

रामनिवास शर्मा "सौरभ" ने अनेक वर्षों तक धर्म, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, जीवन आदि पर निरंतर लेख लिखते रहे थे। पं० गिरिधर शर्मा ने भी ऐसे बहुत से लेख लिखे। त्यागभूमि राष्ट्रदूत, नवयुग, लोकवाणी, लहर राष्ट्र-भाषा, जनवाणी आदि में ऐसे लेख धड़ाधड़ निकलते रहे हैं जिनमें सामा-जिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया जाता है। इनमें हास्य और व्यंग्य के बड़े सुन्दर चित्र हमारे सामने आते रहे हैं। इस प्रकार के कलाकारों में श्रीचन्द्र गुप्त वार्ष्णेय का नाम उल्लेखनीय हैं।

रेखाचित्र, संस्मरण, स्वप्न तथा रिपोर्ताज

गद्य की इन शैलियों को प्रशस्त करने के लिए भी राजस्थान ने कदम बढ़ाया है। स्थानीय दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में समय-समय पर रेखा-चित्र, संस्मरण, स्वप्न और रिपोर्ताज़ निकलते रहते हैं। श्री महेश पुरोहित, मनोहर प्रभाकर, दिनेश खरे, अरुण आदि के अतिरिक्त और भी कितने ही नवयुवकों की अच्छी-अच्छी रचनाएँ पत्रों में निकलती रहती हैं। "महा-मानव," "सींगोंवाली", "स्वप्न का देवता," "महादेवी" आदि अनेक इसी प्रकार की रचनाएँ प्रतिदिन प्रकाश में आ रही हैं।

भाषा-विज्ञान

राजस्थान-साहित्य की परंपरा और प्रगति की विवरणिका उस समय तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक कि यहाँ की भाषा के संबंध में यहाँ के तथा अन्य प्रान्तों, देशों और भाषाओं में हुए शोधकार्यों पर दृक्पात न कर लिया जाये, क्योंकि उनका संबंध न केवल यहाँ की भाषा से रहा है वरन् उनमें यहाँ के साहित्यकारों का भी यथास्थान विवरण दिया गया है। साथ ही यहाँ के शोधपूर्ण निबंधों पर भी उनका बड़ा प्रभाव पड़ा है। जिन महा-पुरुषों ने इस क्षेत्र में काम किया है उनमें से प्रसिद्ध ये हैं :—मैकलिस्टर, डा० ग्रियर्सन, डा० हरप्रसाद शास्त्री, डा० एल० पी० टैसिटरी, डा० सुनीतिकुमारी चटर्जी, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और डा० टीकमचन्द तोमर।

उपसंहार

इस विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि राजस्थान साहित्य ने जिन परंपराओं के आधार पर गौरव प्राप्त किया था उनका आज अवसान हो चुका है। नये युग के पदार्पण से यहाँ के जैन और चारण कवियों तक की स्वरोर्मियां बदल गयीं हैं। काव्य के रूप, भाषा और रस-लहरियों में नवोन्मेष हो रहा है। यहाँ के साहित्यकार की दृष्टि राम-कृष्ण, पृथ्वी-राज, जयचन्द, विलास और युद्ध आदि से सामान्य मनुष्य पर आगयी है। अब वह समाज के दलित दुर्बल पात्र के साथ सहानुभूति प्रकट कर रहा है। वह विलास का आलोचक और श्रम का प्रशंसक है। अब वह राज-प्रसादों में जाने के लिए लालायित नहीं है, आज उसकी अनुभूति की निधि किसी श्रमिक कुटिया की परिक्रमा से प्राप्त श्रम-देव की झाँकियों से ही अनुपूरित होती है। उसकी दृष्टि बदल गई है और कुटिया की रानी में उसे अनुपम सौन्दर्य गोचर होता है। कृषक-बालाओं के संगीत पर उसका स्वर मदिर हो उठता है, भिखारी के अभाव पर विकल और विलास के उन्माद पर उग्र हो जाता है।

दोहा चल रहा है, किन्तु गति मन्द होगई है। गीत चल रहा है, किन्तु दोहा की चाल में नहीं, अपनी नई चाल में। उसका प्राचीन धरातल गया, नयी भूमिका प्रस्तुत होगई है जिसमें नया वातावरण और नई समस्याएँ हैं। नवप्रभात की नव किरणें नव ज्योति फैला रही हैं। नई चेतना और नई भावनाओं से नया साहित्य निर्मित हो रहा है। शायद इसीलिए दोहा अपना आकर्षण रुबाइयों को सौंप रहा है।

वातावरण बदल गया है, नई समस्याएँ सामने आ गई हैं और खड़ी-बोली राजस्थान में जमकर खड़ी होगई है। उसकी न तो उपेक्षा ही संभव है और न विसर्जना ही, क्योंकि उसने राजस्थान के नये वातावरण और नये जीवन से अपना संबंध जोड़ लिया है। दोनों में से कोई भी प्रयास आत्म-घातक सिद्ध होगा। यह न भुला देना चाहिए कि साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली जो निकटता और एकता ला रही है वह देश और काल के लिए उप-

युक्त है और उसी में समाज का कल्याण है।

यदि डिंगल शैली युग के साथ समझौता करके रहती है तो बड़ी अच्छी बात है, किन्तु चिरमुक्त चीवर की भाँति वह अपने साथ बलात्कार न सह सकेगी। एक युग था जिसने डिंगल को पसंद किया था और एक युग था जिसको डिंगल ने अपना सहयोग दिया था। वह युग समाप्त होगया और डिंगल का काम भी वहीं पूरा होगया। अब नया युग नयी आवश्यकताओं के दल-बल के साथ आया है। उसकी नई उमंगें और नई चाहें हैं। उन्हीं से युग का कल्याण होगा। युग अनावश्यकताओं का आभार उसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकता जिस प्रकार अहिराज ऋतुविपर्यय के समय उत्सृष्ट केंचुली को स्वीकार नहीं करता। युग अर्थात् हमारे समाज का मंगल इसी में है कि हम युग की गति को अवरुद्ध न करें। उसे पंगु बनाकर हम कृत-कार्य नहीं हो सकते। अतएव राजस्थान के साहित्य ने जिस परंपरा और गति को स्वीकार किया है वह उसकी स्व-दिशा और स्व-गति है। उसी में हमारी प्रेरणा है और उसी में पथ और प्रकाश है।